लोक स्वास्थ्य में समग्रता की खोज

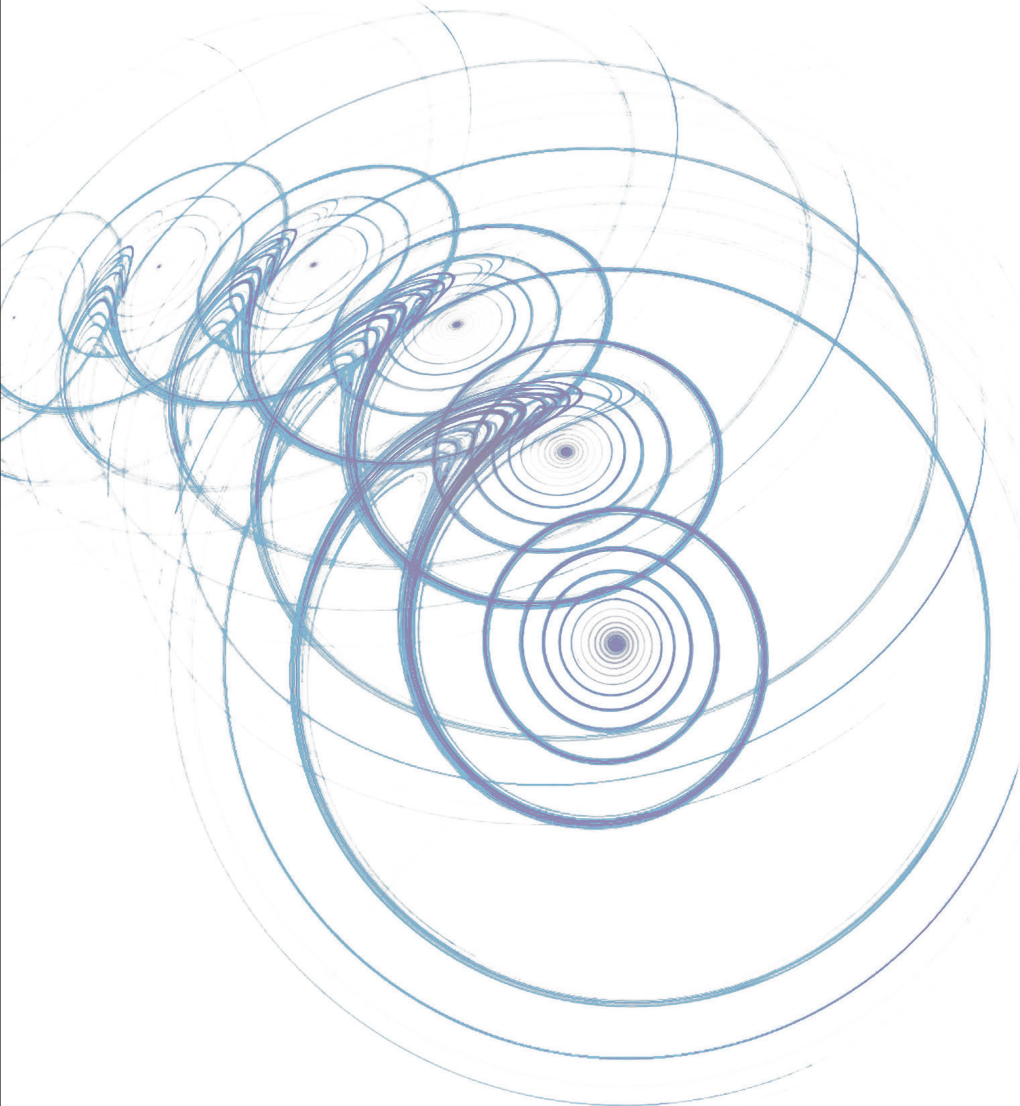

रितु प्रिया

लोक स्वास्थ्य में समग्रता की खोज

रितु प्रिया

© सर्वजन सुलभ, 2017
अपने नज़रिए से इसे इस्तेमाल करने, पुनर्प्रकाशित करने के लिए आप स्वतंत्र हैं। हमें सूचना देंगे तो अच्छा लगेगा।

प्रकाशक

हेल्थ स्वराज संवाद
दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)
सिएमेनपू फाउंडेशन, फिनलैंड, के वित्तीय सहयोग से
बी ई – 14 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स,
मुनिरका, नई दिल्ली – 110067
ईमेल : networkscommunication@gmail.com

दानिश बुक्स्
संपादकीय कार्यालयः 13 सी, स्काईलार्क अपार्टमेंट्स,
गाजीपुर, दिल्ली– 110096
www.daanishbooks.com

ISBN : 978-93-81144-67-1

Published by:

Health Swaraaj Samvaad
South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
(With financial support from Siemenpuu Foundation, Finland)
B E - 14 A, D.D.A. Flats,
Munirka, New Delhi- 110067
Phone: 011- 26101580
Email: networkscommunication@gmail.com

Printed by Multiplexus (India)
multiplexusindia@gmail.com

विषय सूची

परिचय : लोक स्वास्थ्य में समग्रता **01**

खण्ड –1 ज्ञान तन्त्र का लोकतान्त्रीकरण

1. ज्ञान स्वराज और स्वास्थ्य 09
2. एड्स की बहसें और विज्ञान का तीसरा पक्ष 33
3. आवश्यक है आयोडीनयुक्त नमक के विज्ञान की संपूर्ण समीक्षा 45
4. पारम्परिक व आधुनिक आहार ज्ञान के बीच संवादः प्रयास एवम् चुनौतियाँ 49

खण्ड –2 कुपोषण : एक जटिल समस्या

5. भूख, भुखमरी और कुपोषण : कैसे समझें और निपटें 57
6. गरीबी रेखा का विज्ञान : तीन उपयोग तो तीन अलग रेखाएं चाहिएँ 69

खण्ड –3 शहरी लोक–स्वास्थ्य के कुछ आयाम : दिल्ली के अनुभव से

7. सुंदर नगरी में हैज़ाः 1988 की महामारी की असलीयत व उससे मिली कुछ सीख 75
8. दिल्ली के स्वास्थ्य का तकाज़ा 85

खण्ड –4 लोक स्वराज वाली स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था

9. समग्र स्वास्थ्य नीति के आधार : अवसर एवं चुनौतियाँ 93

लोक स्वास्थ्य में समग्रता

'स्वास्थ्य व खुशहाली' लोकहित में विकास के केन्द्र बिन्दु हैं। विकास के विभिन्न कामों का औचित्य सिद्ध करने के लिए सरकारों व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वक्तव्यों में भी इन्हीं को बढ़ावा देने का तर्क महत्वपूर्ण रहता है। स्वास्थ्य सेवाएं तो 'स्वास्थ्य और खुशहाली' बढ़ाने का केवल एक सीमित तन्त्र हैं। लोगों के स्वास्थ्य का आधार किसी भी देश व कालखण्ड में, उनके सामाजिक व पर्यावरणीय परिस्थितियों से बनता–बिगड़ता है। माँ के गर्भ, जन्म, व जन्म के बाद जीवन और कार्य स्थल में कैसा पोषण मिलता है, आबोहवा कैसी है, जीवन यापन का तरीका कैसा है, बुनियादी जरूरतें इज़्जत से मिल पाती हैं कि नहीं, आपसी मानवीय रिश्ते कैसे हैं, मानसिक तनाव कितने व्याप्त हैं और आध्यात्मिक संतोष के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हैं कि नहीं, यही सब तय करते हैं कि लोग कितने स्वस्थ्य व खुशहाल होंगे। इसलिए सभी क्षेत्रों की नीतियों को बनाते समय समाज में स्वास्थ्य व खुशहाली को बढ़ाने के उद्देश्य की कसौटी पर परख कर ही अपनाया जाना चाहिए।

यही बात स्वास्थ्य सेवाओं पर भी लागू होती है। स्वास्थ्य सेवाएँ कैसी हों जिनसे अधिकतम लोगों को अधिकतम फ़ायदा पहुँचे, लोगों को कैसे उपलब्ध हों ताकि ज़रूरत अनुसार, समय पर व इज़्जत से मिलें, शारीरिक स्वास्थ्य के साथ खुशहाली भी बढ़े न कि कम हो, व सभी की अपने शरीर की समझ व उसपर नियन्त्रण बढ़ता जाए, यह इस तन्त्र को बनाने के आधार बिन्दु हैं।

मानव शरीर की बनावट दुनिया के सभी क्षेत्रों, समाजों व तबकों में एक सी ही है। परन्तु पर्यावरणीय व सामाजिक भिन्नता के कारण विभिन्न देशों, समाजों व तबकों की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ व प्राथमिकताएं अलग–अलग हो जाती हैं। ऐतिहासिक भिन्नताओं के चलते स्वास्थ्य सेवा तन्त्र व नीतियों का आधार व शक्ल भिन्न हो सकते हैं, परन्तु मूल सिद्धान्त एक होंगे।

वर्तमान में स्वास्थ्य सेवाओं की प्रवृति में है उपरोक्त सिद्धान्तों के विपरीत प्रक्रियाओं का चलन बढ़ाना। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान व स्वास्थ्य सेवा तन्त्र व्यक्तिपरक, प्रतिस्पर्धा व व्यापारीकरण को बढ़ावा देने वाले नज़रिए पर आधारित है। सामूहिकता, आपसी सहयोग व सेवा के बजाए हर व्यक्ति को एकल इकाई मानना और स्वास्थ्य सेवा को व्यवसाय व व्यापार आधारित तन्त्र की दृष्टि से देखना इसके विज्ञान व तकनीकी में निहित है। इन (अव)गुणों के कारण वर्तमान स्वास्थ्य सेवाएं आमतौर से लोगों के सशक्तीकरण के बजाए उनकी बीमारी सम्बन्धी चिन्ताएं व निर्भरता बढ़ाती हैं।

स्वास्थ्य विज्ञान के भिन्न नज़रिए

परन्तु इस आधुनिक ज्ञान तन्त्र में भी अनेक धाराएं हैं। लोक स्वास्थ्य विज्ञान (यानि पब्लिक हेल्थ) का मूल ही है सामूहिक स्वास्थ्य का अध्ययन जिसमें व्यक्ति केन्द्रित

चिकित्सा विज्ञान केवल एक भाग है।

शारीरिक स्वास्थ्य के कारक कैसे समझते हैं

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की प्रमुख सोच 'बायोमेडिकल' (यानि जीव–विज्ञान व चिकित्सा पर आधारित ज्ञान तन्त्र की) रही है, कि स्थूल शरीर में ही स्वास्थ्य व बीमारी के कारक बसते हैं और दिमाग व मन, यानि विचार व भावना, उससे अलग हैं। और इसलिए इस 'बायोमेडिकल' नज़रिए में वैज्ञानिक जानकारी सभी मनुष्यों पर एकरूप ढंग से लागू होती है। इस नज़रिए से हटकर दूसरी सोच जो शरीर, दिमाग और मन के आपसी सम्बन्धों को महत्व देती है, जिसको 'साईको–सोमैटिक' नज़रिया कह सकते हैं। हालाँकि यह सोच पहले से ज़्यादा पहलुओं के अंतर सम्बन्ध समझती है, दोनों ही व्यक्ति केन्द्रित सोच हैं।

'पब्लिक हेल्थ' (यानि 'लोक स्वास्थ्य') भिन्न है क्योंकि वह सामाजिक इकाइयों (जैसे परिवार, जाति–बिरादरी, गाँव, मोहल्ला, शहर, देश) के सदस्यों के आपसी व बाहरी रिश्तों को उनके स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण मानता है। साथ ही यह समझ है कि सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ विभिन्न तबकों, सामाजिक समूहों व क्षेत्रीय आबादी के सामूहिक स्वास्थ्य की स्थिति तय करती हैं। इसीलिए सभी सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक ढाँचे व नीतियों के पर्यावरणीय व सामाजिक असर ही लोगों के स्वास्थ्य व बीमारी को बढ़ाते या घटाते हैं। और इसीलिए सभी क्षेत्रों की नीतियों को अपनाने से पहले उनके द्वारा सम्भावित स्वास्थ्य पर असर को आँका जाना आवश्यक है।

स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था सम्बन्धी नज़रिया

स्वास्थ्य विज्ञान का एक अन्य पक्ष स्वास्थ्य सेवाओं के तन्त्र की व्यवस्था से सम्बन्धित है जो उसके ढाँचे, उनके कार्य व कार्यकुशलता का अध्ययन करता है और उन नीतिगत निर्णयों व नियोजन को वैज्ञानिक आधार देने की कोशिश करता है। इसमें भी विभिन्न धाराएँ हैं। 'सोशल मेडिसन' की समझ है कि सभी तक आधुनिक स्वास्थ्य सेवाएँ पहुँचाने के लिए आर्थिक व सामाजिक रुकावटों को भेदना ज़रूरी है, इसलिए संदर्भ अनुकूल सेवा तन्त्र बनाना आवश्यक है।

इससे आगे 'पब्लिक हेल्थ' उपरोक्त स्वास्थ्य के विभिन्न कारकों की समझ को स्वास्थ्य सेवा तन्त्र में सम्मिलित करता है। उसे समाज के विभिन्न तन्त्रों से जोड़कर, वह स्वास्थ्य सेवाओं को समाज की प्रक्रियाओं के हिस्से के तौर पर देखता है न कि एक अतिविशिष्ट स्वतन्त्र इकाई के तौर पर। इसलिए पब्लिक हेल्थ लोगों की अपनी स्वस्थकर जीवन सम्बन्धी समझ, जानकारी व तौर–तरीकों के साथ–साथ विभिन्न पद्धतियों के ज्ञान (परम्परागत व आधुनिक) को संजोने की कोशिश करता रहा है। स्वास्थ्यवर्धक समाज रचना के लिए स्वास्थ्य सेवाएँ इसका ध्येय है।

इस प्रकार आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान में संकुचित बायोमेडिकल नज़रिए से लेकर समग्रता की ओर बढ़ते कई नज़रिए हैं।

विभिन्न स्वास्थ्य ज्ञान पद्धतियाँ

अन्य स्वास्थ्य ज्ञान पद्धतियों में भी इसी प्रकार स्वास्थ्य व खुशहाली और बीमारी के कारक व स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था सम्बन्धी समझदारी है। उनमें भी व्यक्तिकेन्द्रित व सामूहिकता के वैचारिक प्रवाह हैं। परन्तु पिछले 200–300 वर्ष में 'आधुनिक' यूरोपीय–अमरीकी सोच का ही वर्चस्व रहा है और इसलिए वहाँ की आधुनिक चिकित्सा ज्ञान पद्धति का भी। दुनिया भर में बहुसंख्य लोगों ने इस पद्धति पर आधारित सेवाओं को अपनाया और उनसे फायदा पाया है। परन्तु फिर भी बहुसंख्य लोग विभिन्न ज्ञान पद्धतियों का इस्तेमाल एक साथ करते रहे हैं।

परम्परागत पद्धतियों में व्यक्ति के शरीर, दिमाग, मन और आत्मा को एक इकाई की विभिन्न परतों के रूप में समझा गया है। जो अलग भी हैं और एक दूसरे से जुड़ी भी। साथ ही यह सभी पर्यावरण, सामाजिक परिवेश व सरंचना से प्रभावित हैं। और इसीलिए स्थान और काल से स्वास्थ्य संदर्भित माना जाता है। इस प्रकार पब्लिक हेल्थ का कुछ सार इनके मूल ज्ञान में निहित है। इनमें 'व्यक्ति' व 'सामूहिकता' का द्वन्द्व नहीं, दोनों के आपसी रिश्ते समाहित हैं।

महत्व का यह भी है कि परम्परागत पद्धतियाँ जो जड़ी–बूटी, पशुजनित व खनिज की दवाओं पर आधारित हैं, उनकी जानकारी का प्रथम स्रोत प्रकृति के करीब रहने वाले लोग थे, यानि वे तबके जो प्रकृति आधारित शारीरिक श्रम करते हैं –गडरिए, खेतिहर, आदिवासी इत्यादि। इस जानकारी को व्यवस्थित कर इसे विशिष्ट ज्ञान पद्धतियों में ढाला गया जिससे उसकी इन तबकों से दूरी बन गई। परन्तु आम जन व परम्परागत विशेषज्ञों के बीच ज्ञान की कड़ियाँ आज भी जुड़ी हुई हैं।

गैरबराबरी वाले समाज में इन पद्धतियों का फायदा सबको कैसे मिले इसके लिए भी सामाजिक व्यवस्था की कोशिश रहती थी। क्योंकि परम्परागत तौर पर दवाएँ अधिकांशतः आसपास की प्रकृति से ली जाती थीं इसलिए विशेषज्ञ भी अपनी सेवाएं मुफ्त प्रदान कर सकते थे, अपना समय व श्रम को समाज सेवा मान सकते थे। राजा कैसा है, इससे खुशहाली, स्वास्थ्य व बीमारी का फैलना तय होता है – यह सोच भी थी।

बहुलतावादी स्वास्थ्य तन्त्र

आधुनिक यूरो–अमरिकी विज्ञान ने आधिपत्य हासिल कर अन्य पद्धतियों को 'अवैज्ञानिक' या दोयम दर्जे का ज्ञान घोषित कर दिया था। माना गया कि एक ही ज्ञान पद्धति 'असली' हो सकती है व अन्य या तो छद्म या कम विकसित और इसलिए अब अप्रासांगिक हो गए ज्ञान तन्त्र हैं। अब उसकी अपनी सीमाएँ आमतौर पर नज़र आने लगी हैं। वैज्ञानिक वर्चस्व वाले हल्कों में भी यह अब सोच का हिस्सा बनता जा रहा है कि विभिन्न ज्ञान पद्धतियों की अपनी–अपनी ताकत के क्षेत्र व सीमाएँ हैं। इसलिए ज्ञान पद्धतियों की बहुलता को समाज की ताकत मानना चाहिए न कि पिछड़ेपन का द्योतक।

इस बहुलतावादी सोच में आम लोगों के अपने सामूहिक ज्ञान, व हर व्यक्ति की अपने

शरीर व स्वास्थ्य के बारे में समझ, का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जो हर व्यक्ति अपने शरीर के बारे में जान सकता है वह और कोई नहीं। इसके साथ–साथ अपनी सामाजिक–आर्थिक परिस्थिति की जानकारी भी उनके पास होती है जो डाक्टर व अन्य स्वास्थ्य विशेषज्ञों के पास अक्सर नहीं होती। तीसरा महत्वपूर्ण आयाम है कि हर व्यक्ति व समूह को अपनी परिस्थिति व समझ अनुसार तय करने का अधिकार है कि वह अपने स्वास्थ्य के लिए, बीमारी की रोकथाम व इलाज के लिए, क्या करना चाहते हैं। खुद क्या करना चाहता है, किस विशेषज्ञ से राय लेना चाहते हैं, यह हर व्यक्ति व समुदाय की स्वतन्त्रता है। इस बहुलतावादी सोच पर आधारित लोक स्वस्थ्य को ही 'स्वराज' का नज़रिया कह सकते हैं।

समग्र लोक स्वास्थ्य

वर्तमान स्वास्थ्य विज्ञान के सबसे व्यापक नज़रिए की सम्भावना पब्लिक हेल्थ में पाते हुए, उसे कुछ और विश्लेषित करते हैं।

लोक स्वास्थ्य (पब्लिक हेल्थ) मे निहित है समुदाय या देश की आबादी के स्वास्थ्य व स्वास्थ्य समस्याओं का सामूहिक आँकलन, उनके कारणों का सामूहिक निदान व बचाव और इलाज के सामूहिक तरीके। इसका तात्पर्य है :

1. व्यापक स्तर पर विश्लेषण जो विभिन्न स्तरों पर स्वास्थ्य के लिए नियोजन में मददगार हो। अन्तरर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय से स्थानीय तक; घर–परिवार से व्यक्ति तक। इन सभी स्तरों के अंतरसम्बन्ध समझकर उनके अनुसार सामूहिक निदान व उपाय गढ़ना।
2. स्वास्थ्य के सभी आयामों को एक साथ समझना/ध्यान देना, यानि शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, मानसिक इत्यादि। फिर इनका स्वास्थ्य व्यवस्था की तकनीकी, स्वास्थ्यकर्मीयों, इन्फ्रास्ट्रक्चर, व तन्त्र की गुणवत्ता के विभिन्न पहलुओं से परस्पर प्रभाव को ध्यान में रखते हुए नियोजन करना।
3. समाज के विभिन्न समूहों, तबकों, लिंग, के अलग–अलग मुद्दों व प्राथमिकताओं का ध्यान रखना।

   यह सब 'लोक स्वास्थ्य' की समझ का मूल आधार हैं। परन्तु इन सबको एक साथ देखने के भिन्न नज़रिए हैं। कुछ सभी आयामों को अंकों की गणना व आंकड़ों के विश्लेषण द्वारा यान्त्रिक ढंग से अलग–अलग देखते हैं, व उनके आपसी रिश्ते व प्रक्रियाओं पर ज्यादा ध्यान नहीं देते।

   आँकड़ों पर आधारित समझ को आगे बढ़ाते हुए लोक स्वास्थ्य की समग्र दृष्टि उनकी है जो :

1. सामूहिक इकाई को समाज के रूप में देखते हैं न कि केवल 'आबादी' के रूप में।
2. समाज में सांस्कृतिक प्रवाह के तौर पर स्वास्थ्य सेवाओं को देखते हैं न कि मात्र एक सेवा–तन्त्र या कार्यक्रम के रूप में। इसका तात्पर्य है कि आम व्यक्तियों से लेकर विभिन्न स्तरों के स्वास्थ्य कर्मियों से डाक्टरों तक, घरों से लेकर अस्पताल तक, सभी को 'स्वास्थ्य की देखभल के सामाजिक तन्त्र' का हिस्सा मानना। लोगों के अपनी

समझ व उपयों को केन्द्र में रखकर उन्हें व अन्य सभी स्तरों को सुदृढ़ करना।

3. स्वास्थ्य वर्धन, बीमारी से बचाव, व इलाज, तीनों को एकात्म नज़र से देखते और एकीकृत नियोजन की रूपरेखा बनाते हैं।

4. स्वास्थ्य व स्वास्थ्य समस्याओं के विभिन्न ज्ञान तन्त्रों की समझ, आम लोगों की समझ, स्वास्थ्य कर्मियों की अनुभव–जनित समझ, सभी की वैधता को मानते हुए, एक समग्र नज़रिया बनाते हैं।

5. स्थानीय पर्यावरणीय, सामाजिक, सॉंस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक और स्वास्थ्य ज्ञान व सेवाओं की परिस्थिति अनुकूल उपायों व कार्यक्रमों का नियोजन व क्रियान्वयन करते हैं। इसके लिए विकेन्द्रित ज्ञान व सेवा तन्त्र आवश्यक हैं।

'स्वराज' की समझ

स्वराज शब्द का प्रयोग गाँधी जी ने अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष के दौरान किया था। हमारे लिए यहाँ उसका संदर्भ कई मायनों में अनुकूल है। पहला है 'स्व' की परिभाषा। व्यक्ति से शुरू होकर 'स्व' का दायरा विस्तृत होता जाता है, समकेन्द्रित घेरों की तरह–परिवार से बिरादरी, व्यवसाय आधारित व अन्य सामूहिकताएँ, गाँव/मोहल्ला, 'देस'/जिला, राज्य, देश, दुनिया, ब्रह्माण्ड।

स्वराज में 'राज' का मतलब है हर स्तर पर अपनी ज़िम्मेवारियाँ (स्वधर्म) निभाते हुए जीवन के विभिन्न पहलुओं पर सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रियाओं में भागेदारी करना व स्वधर्म निभाने के लिए स्व–नियन्त्रण करना। इसमें निहित है कि दूसरों को (जो अपने अगले बड़े सामाजिक घेरे में सम्मिलित भी हैं) अपना स्वधर्म निभाने का अवसर देते हुए ही अपना स्वधर्म निभाना। इस प्रकार विभिन्न स्तरों पर सामाजिक इकाइयों, ज्ञान और नजरियों के बहुलतावाद, और स्वनियन्त्रण द्वारा स्वावलम्बी, स्वस्थ व खुशहाल समाज, देश व दुनिया बनाने का यह नज़रिया समग्र लोक स्वास्थ्य के विचार के बहुत करीब है।

लोक स्वास्थ्य में स्वराज का नज़रिया

आम लोगों के सशक्तीकरण में अपने शरीर पर स्वनियन्त्रण का अहसास एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और स्वराज की सोच उसको व्यक्त करती है। जितना समग्र व बहुतलतावादी नज़रिया होगा और विकेन्द्रित तन्त्र होगा, उतनी 'स्वराज' की सम्भावना बनी रहेगी। परन्तु 19वीं–20वीं शताब्दी में स्थापित ज्ञान तन्त्र व स्वास्थ्य सेवा तन्त्र दुनिया भर को इससे विपरीत दिशा में ले गए। 19वीं शताब्दी के राजनैतिक 'वैश्वीकरण' यानि यूरोपीय व अमरीकी उपनिवेशवाद से लेकर, 20वीं शताब्दी के 'विकास', और 1980–90 से चले आ रहे वित्तीय व व्यापारिक वैश्वीकरण द्वारा व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा, व्यापारीकरण व राजनैतिक तन्त्र का मानव जीवन में वर्चस्व स्थापित व सुदृढ़ होता चला गया है। इस दौरान के 'विकास' से शारीरिक स्वास्थ्य में बड़े पैमाने पर बेहतरी भी हुई है, और मानसिक व सामाजिक स्वास्थ्य का ह्रास भी। इस विकास ने आर्थिक गैर–बराबरी भी बढ़ाई और व्यक्ति के स्व–नियन्त्रण का ह्रास किया, परन्तु महिलाओं व निचली मानी ज़ाने वाली

जातियों की सामाजिक स्थिति पर चेतना बढ़ाई व बेहतर बनाया। ज़रूरत है ऐसी व्यवस्था व प्रक्रियाओं की जो सभी सकारात्मक पक्षों के बीच सामन्जस्य बिठाएँ ताकि सभी की खुशहाली व स्वास्थ्य सुनिश्चित हो।

यह पुस्तक

इस पुस्तक में लेखक द्वारा 1989–2015 के बीच हिन्दी में लिखे विभिन्न आलेख/लोक स्वास्थ्य में 'स्वराज' के नजरिए की खोज दर्शाते हैं। समग्र लोक स्वास्थ्य के मूल सिद्धातों पर चर्चा करते हुए यह लेख वर्तमान में उनको कार्यान्वित करने के लिए कार्य बिन्दु भी इंगित करते हैं।

पुस्तक के पहले खण्ड में चार आलेख हैं। पहला लेख स्वास्थ्य में स्वराज की दृष्टि को और विस्तार से रखता है। दूसरे और तीसरे लेख में राष्ट्रीय–अन्तरर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों–आयोडीन युक्त नमक की अनिवार्यता व एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम–की स्थापित सोच पर प्रश्नचिन्ह लगाकर वैकल्पिक नज़रिए से अधिक समग्र, तकनीकी व सामाजिक आयामों को समेकित करते हुए उपाय सुझाते हैं। चौथा लेख परम्परागत व आधुनिक आहार व पोषण ज्ञान के बीच संवाद की रपट ऐसे 'ज्ञान–संवाद' की चुनौतियों व सम्भावनओं को उद्घाटित करती है।

दूसरा खण्ड कुपोषण की समस्या को सामूहिक प्रक्रिया के तौर पर समझने की दृष्टि प्रस्तुत करता है। सामुदायिक स्तर पर पोषण निगरानी करने वाले समाजकर्मियों के साथ संवाद के लिए तैयार की गई पुस्तिका यहाँ प्रकाशित है। साथ ही एक लेख है जो 'गरीबी रेखा' की उपयोगिता पर चल रही बहसों के बीच एक कारगर रास्ता निकालने का प्रयास है।

तीसरा खण्ड दिल्ली शहर में लोक स्वास्थ्य की नज़र से अध्ययन के नतीजे पेश करता है। हैज़े की 1988 में फैली महामारी के कारक व उपाय दोनों ही आज भी देश के विभिन्न शहरों की तस्वीर दर्शाते हैं और इसलिए प्रासंगिक मुद्दे उजागर करते हैं। 2014 में लोक उभार से जनित लोकहित को प्राथमिकता देने वाली सरकार से पनपी उम्मीदों के दौरान दिल्ली की स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ बनाने के बिंदू पर लिखे गए थे, जो पुनः पेश हैं।

आखिरी आलेख में वर्तमान परिस्थिति में एक समग्र स्वास्थ्य नीति के आयाम व उनको नीतिगत ढाँचे में कारगर ढंग से लाने की सम्भावनाओं व चुनौतियों की चर्चा है।

समग्र, विकेन्द्रित व संदर्भ–केन्द्रित नज़रिए में 'अंतिम सत्य' तक पहुँचना नामुमकिन है क्योंकि नए आयाम, नए प्रश्न, नई परिस्थितियाँ, नई समझ हमेशा पैदा होती रहती हैं। अध्ययन, संवाद व पुनःविचार की सतत् प्रक्रिया ही लोकतांत्रिक ज्ञान तन्त्र व नीति का आधार हो सकते हैं। लेखक की सहयात्रियों से सीखने की इच्छा हमेशा रहती है, इसलिए पाठक अपनी बात लिख भेजें तो शुक्रगुजार होऊँगी।

रितु प्रिया
मार्च, 2017
ritupriyajnu@gmail.com

खण्ड – 1

ज्ञान तन्त्र का लोकतान्त्रीकरण

ज्ञान–स्वराज और स्वास्थ्य सम्वर्धन*

उन्नीस सौ बयास्सी में एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी करने पर मेरे मन में सवाल था कि अपने समाज में मेरी डाक्टरी की क्या भूमिका है। डाक्टरी ज्ञान द्वारा हमारे सामाजिक व आर्थिक परिवेश में स्वास्थ्य सम्वर्धन की सम्भावना इस प्रश्न का एक पहलू था– गरीबी, कुपोषण इत्यादि के चलते। डाक्टरी सेवा व्यवस्था की कमियों–गड़बड़ियों ने दूसरा पहलू खड़ा किया था। अपनी भूमिका ढूँढते हुए पहले कुछ ग्रामीण इलाकों में व शहरी बस्तियों में कार्यरत संस्थाओं, कार्यकर्ताओं व डाक्टरों के साथ घूमी, वैकल्पिक विकास और स्वास्थ्य के कार्यक्रम देखे–समझे और उनसे बहुत कुछ सीखने को मिला। परन्तु इन समूहों को 5–10 साल काम करते हो चुके थे और उनकी कार्यनीति की सीमाएं भी दिखने लगी थीं। इसलिए लगा कि व्यवस्थित पढ़ाई करके स्वास्थ्य व्यवस्था की सरंचना व विभिन्नताओं और विकल्पों की अपनी समझ बढ़ाई जाए। तब से चली आ रही खोज के आधार पर कुछ बातें आपके सामने रखूंगी।

उन्नीस सौ सत्तर और अस्सी के दशकों का दौर था जिसमें आधुनिक 'विकास' की प्रमुख अवधारणा पर सवाल उठ रहे थे और दुनिया भर में आम लोगों की आवाज बुलन्द हो रही थी। 1940–50 के दशकों में स्वतन्त्रता प्राप्त देशों ने 'नॉन–एलाईन्ड अभियान' के तहत साम्राज्यवादी देशों से अलग अपनी पहचान घोषित कर चुके थे, और हमारे देश में लोगों की आवाज जे.पी. आन्दोलन द्वारा मुखरित हुई थी।

'विकासशील' कहलाने वाले देशों के विकास के प्रयास औद्योगिक देशों के विकास की अवधारणा को अपने लिए अनुपयुक्त पा रहे थे। स्वास्थ्य के क्षेत्र में विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू.एच.ओ.) और संयुक्त राष्ट्र बाल इमरजेंसी फण्ड (यूनीसेफ) के तहत यह बात औपचारिक रूप से मानते हुए सभी देशों ने 'प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा' की अवधारणा द्वारा 'सभी के लिए सन् 2000 तक स्वास्थ्य' का लक्ष्य अपनाया। इस अवधारणा का एक महत्वपूर्ण अंग था 'उपयुक्त तकनीकी' का इस्तेमाल। इस अवधारणा की विश्व स्तर पर मान्यता की नींव अनेक आन्दोलनों और बौद्धिक कर्मियों के संयुक्त प्रभाव से बनी थी। उसमें से एक थी महिला आन्दोलन की और उसके अनेक मुद्दों में एक महत्वपूर्ण मुद्दा था अपने शरीर की जानकारी पर 'हक' का। डाक्टरों व मेडिकल व्यवस्था के आधिपत्य को चुनौती देते हुए उसके शिकंजे से बाहर निकल कर महिलाओं के अपने अनुभव और ज्ञान

---

*नूतन मेमोरियल लेक्चर, पटना, 3 मई, 2015

नूतन जी का गरिमामय व्यक्तित्व, उनकी गर्मजोशी और सब के लिए मित्रता व प्रेम का भाव याद करके उन्हें अपनी श्रद्धांजलि देने के इस मौके के लिए मैं आयोजक मण्डल की आभारी हूं। नूतन जी को याद करके इन्सानियत के उजले रूप में विश्वास बढ़ता है, तर्कसंगत सामूहिक आचार–विचार के लिए प्रेरणा पुष्ट होती है। मेरा उन्हें सलाम।

की वैधता को स्थापित करने का प्रयास था। और यह आम महिला के सशक्तीकरण का एक प्रमुख आयाम माना गया था।

महिलाओं ने स्वयं सहायता समूह बनाए। आज जैसे आर्थिक लाभ व व्यापार के लिए बने 'एस.एच.जी.' नहीं बल्कि स्वास्थ्य पर चर्चा, आपसी जानकारी बढ़ाने व डाक्टरी व्यवस्था के बाहर अपने बूते पर स्वास्थ्य वर्धन और बीमारी के इलाज के अन्य तरीके समझने–अपनाने के लिए। अमेरिका के ऐसे एक समूह ने 'आवर बॉडीज़, आवर सेल्वज' (हमारा शरीर, हमारा अस्तित्व) नाम की पुस्तक निकाली जो दुनिया की अनेक भाषाओं में अनुदित हुई। दिल्ली सहित भारत के अनेक हिस्सों में ऐसे समूह बनने, उनकी चर्चाओं में भाग लेना मुझे याद है।

मेक्सिकन आदिवासियों के बीच कार्यरत डॉ. डेविड वर्नर ने 'वेयर देयर इज़ नो डॉक्टर' किताब लिखी जिसे भारत में 'वॉलन्टरी हेल्थ ऐसोसिएशन' ने उसका भारतीय रूपान्तरण कर 'जहां डॉ. न हो' नाम से छापा और अनेक वैकल्पिक विकास पर काम कर रहे भारतीय समूहों ने सामुदायिक काम में उसका इस्तेमाल किया। लोक विज्ञान आन्दोलन (पीपुल्ज़ साइन्स मूवमेंट) के तहत डाक्टरी ज्ञान में आम बीमारियों से जुड़ी जानकारी, व्यवस्था की कमियों व वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में जानकारी फैलाने के प्रयास हेतु पुस्तिकाएं निकलतीं, गोष्ठियां और कार्यशालाएं आयोजित होती थीं।

आधुनिक मेडिकल विज्ञान को नकारे बिना, उसको 'लोगों का ज्ञान' बनाने की कोशिश और साथ ही स्थानीय परम्परागत ज्ञान को 'वैज्ञानिकता' की कसौटी पर कसके उसको स्वावलंबी स्वास्थ्य व्यवस्था का हिस्सा बनाने की पहल भी की गई। महाराष्ट्र के जामखेड में अरोले दम्पति ने स्थानीय, अशिक्षित, ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षित स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता बनाया। प्रशिक्षण में बीमारी की रोकथाम व इलाज के प्राथमिक स्तर के आधुनिक व परम्परागत, दोनों तरीकों को शामिल किया गया। और ऐसे अनेक सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम देश भर में चलाए गए, मिर्जापुर में रागिनी बहन द्वारा, ईला भट्ट की 'सेवा' द्वारा गुजरात में, तमिलनाडु दीनबन्धुपुरम में, डॉ. भारतेन्दु प्रकाश द्वारा। इनके अनुभव से सरकार द्वारा 'सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता' का देशव्यापी कार्यक्रम चलाया गया। वह एक दशक के अन्दर ही मृतप्राय हो गया परन्तु 2005 से दोबारा 'आशा' (अक्रेडिटिड सोशल हेल्थ ऐक्टिविस्ट) के नाम से पुर्नजीवित हुआ है।

महिला आन्दोलन की पहल पर प्रचलित गर्भ निरोधक तरीकों के महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरे असर को उजागर किया गया। महिला व स्वास्थ्य समूहों द्वारा उजागर किए जाने के कारण डिपोप्रोवेरा और नेट एन जैसे गर्भनिरोधक इन्जेक्शनों को सरकारी कार्यक्रम में शामिल नहीं किया गया। महिलावादी विचार था कि डाक्टरी व्यवस्था पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावित है। वह महिला ही नहीं, सभी मरीजों के अनुभव को नकारते हुए डाक्टरों व मेडिकल उद्योग का लोगों के शरीर सम्बन्धी मुद्दों पर कब्जा जमा चुकी है। इस आधिपत्य द्वारा वह ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने का धंधा बन गई है।

इस प्रकार की चर्चाएं, विवाद, प्रयोग चल ही रहे थे कि फिर आ गया 1980–90 का वैश्वीकरण का दौर जिसने दोबारा मेडिकल इंडस्ट्री' को बढ़ावा ही नहीं दिया, पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया और कॉरपोरेट अस्पताल, डाक्टरी विशेषज्ञ ('स्पेशलिस्ट') व तरह–तरह के 'टेस्ट' का बोलबाला और ज्यादा मजबूती से स्थापित हो गया। कॉरपोरेट अस्पताल शहरों में पनपने लगे। डाक्टर केवल एमबीबीएस से नहीं माने जाने लगे, विशेषज्ञता की डिग्री लगभग आवश्यक हो गई। आम लोगों की मानसिकता भी इसी प्रकार ढलती चली गई, और साठ साल में पढ़े–लिखे तबकों में पक्की धारणा घर कर गई है, कि 'असली इलाज' का मतलब तो डाक्टर और अस्पताल ही है। सवाल उठ सकता है, तो इसमें गलत क्या है?

ऐलोपैथिक डाक्टरी व्यवस्था की उपलब्धियाँ ?

साठ साल पहले स्वास्थ्य सेवाएं दुर्लभ थीं और अब जगह–जगह गोली–सुई तो मिल जाती है; दर्द, बुखार इत्यादि कम तो कर देती है। टीकों व एंटीबायॉटिक्स से संक्रामक रोगों की रोकथाम बड़े पैमाने पर हुई है। जान बचाने वाली सर्जरी का भी चमत्कार देखने को मिलता है। इन सब की एक हद तक सच्चाई मानते हुए यह याद रखना ज़रूरी है कि औपनिवेशिक पश्चिमी देशों में टीकों व एंटीबायॉटिक्स के इजाद होने से पहले ही संक्रामक रोग बहुत हद तक घट चुके थे। भारत जैसे देशों में भी संक्रामक रोग व मृत्यु दर बीसवीं सदी की शुरूआत से घट रही है, और आजादी के बाद छः दशकों में जब ऐलोपैथिक स्वास्थ्य सेवाएं बड़े पैमाने पर फैली हैं, इनके घटने की दर लगभग उतनी ही रही है। जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा लगभग आजादी के पहले और बाद उसी दर से बढ़ती रही है। नीचे दिए ग्राफ में देखेंगे कि 1911–21 और 1931–41 के काल को छोड़ कर (जब विश्व युद्ध, अकाल व महामारी एक साथ आए थे), औसत आयु बढ़ने की दर 1911–21 से 1931–41 और फिर 1941–51 से 1991–2000 में एक सी थी।

ऐसा नहीं था कि उट्ठारहवीं–उन्नीसवीं सदी में आम लोगों के पास कोई स्वास्थ्य सेवा नहीं थी। देश के हर कोने के गांव–गांव में वैद्य जी, जड़ी–बूटी के जानकार, दाइयां व सांप के काटे का इलाज करने वाले विशेषज्ञ थे। शहरों में ज़्यादा पढ़े–लिखे वैद्यराज, हकीम व सिद्धार (तमिलनाडू में सिद्ध पद्धति के चिकित्सक) या आमची (तिब्बती चिकित्सा के डाक्टर) थे। और हर घर–समुदाय में स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी की भरमार रहती, खासकर रोज़मर्रा की बीमारियों–तकलीफों से बचाव व इलाज के तरीकों की। हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली और विकास नीतियों ने इन सबको लगभग अवैध करार दिया। इतिहास में ज्यादा न जाते हुए एक घटनाक्रम इस वैधता की राजनीति को उजागर कर देगी। ईस्ट इन्डिया कम्पनी की 'कम्पनी सरकार' ने भारत में पहला मेडिकल कॉलेज 'द नेटिव मेडिकल कॉलेज' कलकत्ता में 1822 में खोला। इसमें एशिया में पहली बार ऐलोपैथी की पढ़ाई शुरू हुई। तब की सर्वमान्य स्वास्थ्य पद्धतियों, आयुर्वेद और यूनानी,

की पढ़ाई भी कॉलेज छात्रों को ऐलोपैथी के साथ–साथ कराई जाती थी, जिसके लिए उन्हें 'संस्कृत कॉलेज' और मदरसे भेजा जाता। ऐलोपैथी की पढ़ाई स्थानीय भाषा में कराई जिसके लिए किताबों का अनुवाद भी कराया गया। परन्तु वह समय था जब अंग्रेजी हितों को मजबूत व स्थायी बनाने के प्रयास तेज़ हो रहे थे। मैकाले ने 1835 में अपने प्रसिद्ध 'मिन्टस्' लिखे जिनमें उन्होंने 'ब्राऊन बाबू' बनाने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी में शिक्षा की तज़वीज़ रखी और भारत की सारी सांस्कृतिक ज्ञान धरोहर को 'यूरोप की एक शेल्फ की किताबों' के बराबर बताया। उसी वर्ष, यानि 1835 में, 'द नेटिव मेडिकल कॉलेज' बन्द कर दिया गया और केवल 'द कॉलेज' नाम से जाना जाने वाला संस्थान खोला गया जो अंग्रेजी में और केवल ऐलोपैथिक की पढ़ाई करवाता था इस प्रकार स्वास्थ्य ज्ञान पर औपनिवेशिक सत्ता द्वारा पश्चिमी ज्ञान स्रोत का वर्चस्व जमाने की शुरूआत हुई। यह प्रक्रिया समाज में विभिन्न स्तरों पर फैलती गई और जैसे देश व खासकर ग्रामीण इलाकों की अर्थव्यवस्था ध्वस्त की गई थी, वैसे ही परम्परागत ज्ञान पद्धतियों को भी कमज़ोर किया गया। ऐलोपैथिक स्वास्थ्य सेवाओं का गाँव–गाँव तक फैलाव आज़ादी के बाद ही हुआ, परन्तु स्थानीय पद्धतियों से नीतिगत समर्थन वापसी व गरीबी बढ़ने के नकारात्मक असर परम्परागत ज्ञान पद्धतियों पर दिखने लगे। इस चुनौती का एक नतीजा यह भी हुआ कि शास्त्रीय पद्धतियों के चिकित्सक सामूहिक तौर पर संगठित हुए और अपनी पद्धतियों के आधुनिकीकरण के प्रयास भी किए।

रेखा चित्र 1 :

जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा, भारत, 1900–2010

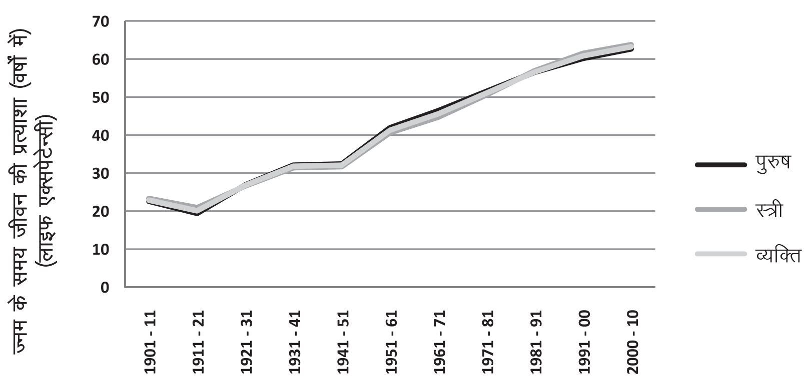

ग्राफ का आधार : भारत सरकार (2011), चयनित सामाजिक–आर्थिक आंकड़े – भारत 2011, सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय

रेखा चित्र 2 :

जन्म के समय अनुमानित जीवन प्रत्याशा, अमेरिका, 1900–1960

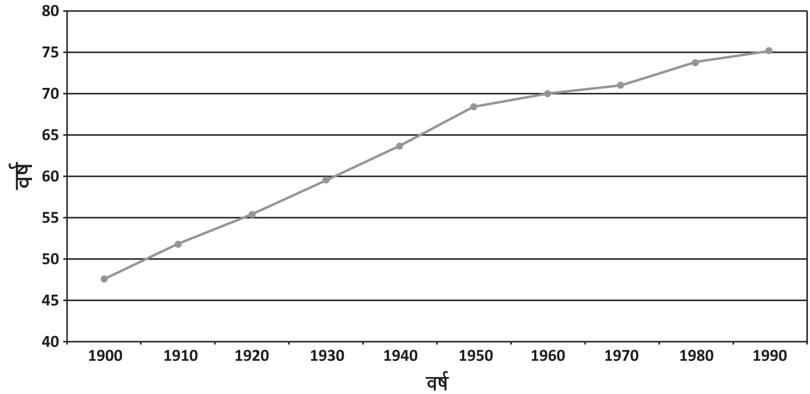

रेखा चित्र 3 :

टी.बी. की दर में गिरावट दवाओं की खोज के पहले और बाद में, अमेरिका, 1900–1995

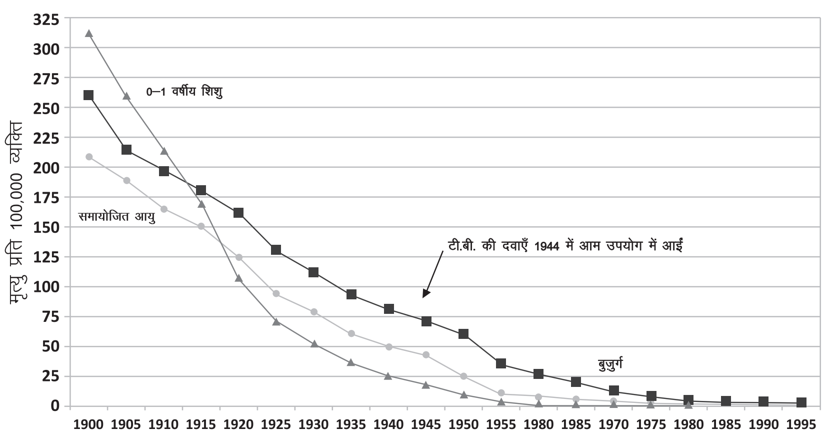

स्वास्थ्य ज्ञान की वैधता

सवाल उठता है कि स्वास्थ्य ज्ञान की वैधता के स्रोत क्या हैं? मानव इतिहास में तीन स्रोत पाए जाते हैं – धर्म, राज्य और बाज़ार तन्त्र। परम्परागत लिपिबद्ध, संहिताबद्ध शास्त्रीय ज्ञान पद्धतियों, जैसे आयुर्वेद, युनानी, चीनी व तिब्बती पद्धतियों, पर भी इन तीनों का प्रभाव देखा जा सकता है और आधुनिक डाक्टरी व्यवस्था पर भी। इन तीनों में से कब कौन सा वैधता का स्रोत ज्यादा या कम हावी होगा वह उस समय की प्रचलित व्यवस्थाएं तय कर देती हैं। स्वास्थ्य के विषय मे कभी यह धर्म का क्षेत्र था, कभी धर्म और राज्य साथ–साथ, कभी राज्य तन्त्र हावी रहा है, कभी बाज़ार और कभी दोनों की सांठ–गांठ।

साथ ही इन सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक तन्त्रों के बाहर भी समाज अपनी गति से चलता है। समाज–समुदाय अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी अपने ढंग से जीने की कोशिश करते हैं, परन्तु विभिन्न तन्त्रों द्वारा तय परिधि के अन्दर ढलते भी हैं। अपने ढंग से चलते हुए समुदाय स्थापित ज्ञान तन्त्र व तौर–तरीकों के अतिरिक्त भी अपने इतिहास व सामयिक अनुभव से ज्ञान संजोते हैं और अपनी परिस्थितियों के अनुकूल उसे अपनाते व ढालते चलते हैं। ज्ञान अर्जन का तन्त्र जितना बहुलतावादी रह पाता है उतना समुदायों की जीवनशैली से जुड़ा रहता है या अपने को जोड़ पाता है। इसीलिए तो आधुनिक डाक्टरी ज्ञान को राज्य तंत्र के पूर्ण समर्थन के बावजूद अन्य पद्धतियों व परम्पराओं का प्रचलन आज भी हमारे समाज में बड़े पैमाने पर जारी है। और यह केवल उन गरीब ग्रामीण, दूर–दराज के समुदायों में नहीं है जिन्हें डाक्टरी इलाज नहीं मिल पाता। घरेलू इलाज, परम्परागत लोक चिकित्सकों जैसे कि जड़ी–बूटी वाले जानकार, हड्डी बिठाने वाले पहलवान, जच्चा–बच्चा की देखभाल करने वाली दाइयां, देश के सभी हिस्सों में आज भी प्रचलित है और वो केवल इस बूते पर कि सभी वर्गों के लोग आज भी इनका इस्तेमाल करते हैं। लोगों का अनुभव उन्हें बताता है कि डाक्टरी इलाज की कमियां क्या हैं और अन्य पद्धतियों से उन्हें क्या फ़ायदा मिल सकता है। विभिन्न पद्धतियों के वाहक, उनके प्रेक्टिशनरस् भी उनको जिन्दा रखते हैं।

इस प्रकार स्वास्थ्य व चिकित्सा ज्ञान और उनकी प्रैक्टिस को वर्तमान समय में तीन भिन्न समूह में विभाजित कर सकते हैं – (1) मेडिकल ज्ञान के डाक्टर जो आधुनिक तन्त्र द्वारा वैधता प्राप्त चिकित्सक हैं, यानि एम.बी.बी. एस. डिग्री प्राप्त व उसी ज्ञान के अनौपचारिक चिकित्सक, (2) परम्परागत ज्ञान के चिकित्सक, जो आधुनिक तन्त्र द्वारा वैद्यता प्राप्त हैं, जिनका राजकीय नाम 'आयुष' बन गया है – आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, स्व–रिगपा, योग और नैचुरोपेथी, व होमियोपैथी। वह आधुनिक तर्ज़ पर डिग्री प्राप्त हैं। (3) राजकीय तन्त्र से कोई वैधता या पहचान पाए बिना परम्परागत लोक ज्ञान जिसमें घरेलू नुस्खे इत्यादि व विभिन्न लोक चिकित्सक शामिल हैं – दाइयां, हड्डी बिठाने वाले, जड़ी–बूटी वाले इत्यादि। इनमें अनेक मिश्रित प्रकार भी हैं, जैसे कि दाइयां जो जड़ी–बूटी भी जानती हैं, जड़ी–बूटी वाले जानकार जो मन्त्र और झाड़ा भी करते हैं। एक अलग प्रकार है जन्तर–मन्तर वालों का आज घरेलू ज्ञान केवल परम्परागत पर ही आधारित नहीं,

आधुनिक दवा के लोक–व्यापिकरण से लोगों ने रोज़मर्रा की अपनी शब्दावली व व्यवहार में आधुनिक ज्ञान से भी कुछ–न–कुछ अपना लिया है।

इस बहुलता को बीसवीं सदी के आधिपत्य प्राप्त विकास और ज्ञान तन्त्र ने कबूला ही नहीं। उसने इसे 'पिछड़ापन', 'गैर–वैज्ञानिकता', व 'अविकसित समाजों की मजबूरी' ही करार दिया। इस धारा की सबसे उदार संकल्पना थी कि विभिन्न ज्ञान पद्धतियाँ 'प्रोटो साईन्स' यानि 'आधुनिक विज्ञान के पहले के ज्ञान' हैं जो 'विज्ञान' तक पहुंचने की सीढ़ी जरूर थे परन्तु आज का 'विज्ञान' ही पूर्णतः परिपक्व ज्ञान है। राजनैतिक व बाज़ार के दबावों के चलते परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों को 1947 के बाद कुछ राजकीय समर्थन मिलता रहा परन्तु वह कितनी गैर–बराबर, गैर–लोकतान्त्रिक बहुलता है इसका अन्दाजा इस बात से लगा सकते हैं कि केन्द्रीय स्वास्थ्य बजट का केवल 2–3 प्रतिशत ही आयुष को मिलता रहा है, बाकी 97 प्रतिशत ऐलोपैथी को। औपचारिक पहचान से वंचित पूर्णतः अवैध रहा 'लोक–ज्ञान'।

परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों ने भी अपनी विशिष्टता स्थापित करके लोक–ज्ञान को अपने से नीचा करार दिया है। परम्परागत ज्ञान 'लोक–जानकारी' को संजोते हुए उपजा है, यह तो 'चरक संहिता' ने भी माना है।

"भेड़–बकरी चराने वाले, चरवाहे व अन्य वनवासी औषधीय जड़ी–बूटियों के नाम व रूप जानते हैं। कोई भी केवल नाम व रूप की पहचान जानने से औषधीय पौधों का सबसे उत्तम औषधीय उपयोग नहीं जान सकता। जिसको सही उपयोग की जानकारी है, वह मूल आवश्यकता ज्ञान का ज्ञाता कहलाता है, चाहे वह औषधीय पौधे का रूप न जानता हो। उस वैद्य का क्या कहना जिसको औषधि का समग्र ज्ञान हो (रूप व मूल औषधिय आधार दोनों की जानकारी)। परन्तु सर्वोत्तम वैद्य वह माना जाएगा जो स्थान व काल अनुकूल और व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार औषधीय पौधों की सही जानकारी रखता हो।"

(चरक संहिता, सूत्रस्थान 1/120–123)

इसके विपरीत ऐलोपैथी का आधुनिक ज्ञान वैज्ञानिक की लैबोरेट्री व डाक्टर की विशेषज्ञ जानकारी से उपजा है। इस प्रकार दोनों का मूल फर्क है आम लोगों की ज्ञान प्रक्रिया में भूमिका।

शायद हर काल खण्ड व स्थान में समाज में किसी ज्ञान पद्धति का आधिपत्य रहता है, या उसकी कोशिश रहती है। समाज में जितनी बहुलता व लोकतंत्र व्याप्त होता है उतना ही ज्ञान की बहुलता भी पनपती है। साथ ही , जो ज्ञान तंत्र सबसे समग्र होगा, जिसमें विभिन्न स्वास्थ्य सम्बन्धी अनुभवों व समस्याओं को समझने व सुलझाने की क्षमता होगी, उतना ही उसको समाज में औपचारिक या अनौपचारिक स्थापत्य मिलता है। चाहे वह ऐलोपैथी हो, या आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और स्वरिगपा, और चाहे वह परम्परागत लोक चिकित्सक हों, सब की शरीर, स्वास्थ्य, बीमारी व चिकित्सा के लिए अपनी 'थ्योरी' (सिद्धान्त व नियम), 'कौन्सेप्ट' (परिकल्पना) व ज्ञान अर्जन की कार्य प्रणाली होती है। इनके अनुसार

ज्ञान तन्त्र व स्वास्थ्य सेवा की प्रक्रिया में आम व्यक्ति या मरीज़ का स्थान तय रहता है।

ज्ञान अर्जन के मूलतः दो ही तरीके हैं – एक है अवलोकन से जानकारी इकट्ठी करना, उस जानकारी का वर्गीकरण व व्यवस्थित करके कारक ढूंढना जिसके लिए परीक्षण व प्रयोग करना, शोध के निष्कर्षों के आधार पर सिद्धांत गढ़ना और उस विषय को संहिताबद्ध (कोडिफाई) करना। दूसरा तरीका है बने–बनाए सिद्धांतों के आधार पर नई जानकारी या बदलाव को समझना; अवलोकित तथ्यों को अपनाए गए सिद्धान्तों की कसौटी पर परखना और सही या गलत करार देना। तीसरा तरीका है 'प्राप्त ज्ञान' का, परन्तु उसे जानने–समझने की मेरी क्षमता नहीं है।

आमतौर पर सभी ज्ञान पद्धतियों में दोनों का समावेश पाया जाता है, परन्तु जब ज्ञान तन्त्र की वैधता का स्रोत मुख्यतः राज्यतन्त्र व मुनाफ़ाखोर बाज़ार तन्त्र बन जाएँ तब न अवलोकित तथ्य और न ही सिद्धान्त खड़े हो पाते हैं। ज्ञान के तर्कसंगत आधार को किनारे रखकर व्यवस्थाएँ गढ़ी जाती हैं व गैर–तार्किक ढंग से ज्ञान पद्धति को तोड़–मरोड़कर उसका उपयोग–दुरुपयोग किया जाता है। आज की स्वास्थ्य व्यवस्था में इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं।

परन्तु जब ज्ञान पद्धति की सीमाएँ दिखने लगें तब उसे अपनी ही समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। स्थापित सिद्धान्तों को तथ्यों या अनुभव के आधार पर समीक्षा और आलोचना करके बदलने की प्रक्रिया 'विज्ञान' का महत्वपूर्ण अंग है। जब सिद्धान्तों की समीक्षा को 'विज्ञान विरोधी' माना जाने लगे और ज्ञान पद्धति इस के कारण जड़ हो जाए तभी वह विज्ञान से वर्चस्ववादी 'विचारधारा' बन जाती है। आज हम विज्ञान और विकास के नाम पर यही मुख्यधारा में बहता प्रवाह देख रहे हैं।

ज्ञान तन्त्र की व्यवस्था ऐसी हो कि उसके अन्दर हर ज्ञान पद्धति अपने प्रयोग कर सके। अपने सिद्धान्तों की समीक्षा कर सके व अपने में अपनी मूल धारणाओं के अनुसार बदलाव ला सके। इसका सबसे लोकतान्त्रिक तरीका हो सकता है एक परस्पर संवादात्मक बहुलतावाद (इंटरऐक्टिव प्लूरलिज्म) का। जो न तो किसी एक का वर्चस्व माने, न एक को दूसरे में समाहित करने (इंटिग्रेशन) की बात करे। हर ज्ञान पद्धति अपने मजबूत आयामों को आगे बढ़ाते हुए औरों से सीखे, संवाद करे। आज इस ओर बढ़ते प्रवाह भी हैं। अब इन सकारात्मक प्रवाह और उनकी बढ़ती आवश्यकता पर बात करें।

अमीर पश्चिमी देशों के अनुभव से सीख

ऐलोपैथिक स्वास्थ्य तन्त्र औपनिवेशिक लूट पर आधारित पश्चिमी सभ्यता में, मूलतः शहरी व औद्योगिक समाजों व पूंजीवाद के बढ़ते दौर में, उपजी है और इसलिए प्रकृति से दूर अमीर शहरी समाजों के अनुकूल ही रही है। हमारे जैसे समाजों में जहां बहुसंख्य आबादी आज भी ग्रामीण और प्रकृति से जुड़े जीवन यापन के तरीकों में लगे लोगों की है वह कितनी माकूल है?

तालिका 1 :

उत्पादन, स्वास्थ्य व्यय और जीवन प्रत्याशा की अन्तरदेशीय तुलना

देश	प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पादन (वर्तमान अमरीकी डालर में) GDP per capita (current USD)*	प्रति व्यक्ति कुल स्वास्थ्य व्यय (अमरीकी डालर में) Total Health Exp per capita (USD) – 2011**	जीडीपी के प्रतिशत के रूप में कुल स्वास्थ्य व्यय Total Health Exp as % of GDP – 2011**	कुल स्वास्थ्य के प्रतिशत के रूप में सरकारी स्वास्थ्य व्यय Govt. Health Exp as % of Total Health Exp – 2011**	जन्म के समय जीवन की अपेक्षा (वर्षों में) Life Expectancy at birth (years) 2012**
भारत	1,497.5	$62	3.9%	30.5%	66
थाईलैंड	5,779.0	$214	4.1%	77.7%	75
श्री लंका	3,279.9	$ 93	3.3%	42.1%	75
ब्रिक्स देश **BRICS Countries**					
ब्राजील	11,208.0	$ 1119	8.9%	45.7%	74
चीन	6,807.4	$ 274	5.1%	55.9%	75
रूस	14,611.7	$803	6.1%	59.8%	69
दक्षिणी अफ्रीका	6,886.3	$670	8.7%	47.7%	59
ओईसीडी देश **OECD Countries**					
अमेरिका	53,042.0	$ 8,467	17.7%	47.8%	79
ब्रिटेन	41,781.1	$ 3,659	9.4%	82.8%	81
जर्मनी	46,251.4	$ 4,996	11.3%	76.5%	81
फ्रांस	42,560.4	$ 4,968	11.6%	76.8%	82
नॉर्वे	100,898.4	$ 9,908	9.9%	85.1%	82
स्वीडन	60,380.9	$ 5,419	9.5%	81.6%	82
डेनमार्क	59,818.6	$ 6,521	10.9%	85.3%	80
जापान	38,633.7	$ 4,656	10%	82.1%	84

स्रोत : * http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.PCAP.CD

** ड्राफ्ट राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2015, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार

अब यह मंहगी व्यवस्था उनके लिए भी भारी पड़ रही है, और हमको सपना दिखाया जा रहा है कि हम भी उनके जैसी स्वास्थ्य व्यवस्था सब को मुहैया करवा सकते हैं। जैसे वैश्विक स्तर पर 1978 में 'हेल्थ फॉर ऑल' का नारा अपनाया गया था, और अब 2008 से 'युनिवर्सल हेल्थ कवरेज' का नारा चल रहा है। और इसका आधार माना जा रहा है इंश्योरेन्स को, कि स्वास्थ्य बीमा द्वारा मंहगा इलाज भी सभी के लिए प्राप्य हो जाएगा। योजना आयोग की 'उच्च स्तरीय एक्सपर्ट ग्रुप' जिसको 2011 में देश में 'युनिवर्सल हेल्थ कवरेज' पाने का खाका बनाने का काम सौंपा गया, ने विभिन्न अमीर, मध्यम व निम्न आय वाले देशों के अनुभव को जांचा, जिन्होंने सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने की ओर खासी सफलता पा ली है। अपने विश्लेषण के बाद उन्होंने बीमा द्वारा सार्वजनिक सेवा व्यवस्था चलाने की बात खारिज कर दी। कुछ मध्यम आय वाले बड़े देश, जैसे ब्राज़ील और थाईलैण्ड, ने बीमा आधारित सार्वजनिक व्यवस्था बनाने का प्रयोग किया, परन्तु फिर उसे छोड़कर सरकारी खर्चे व सार्वजनिक तन्त्र द्वारा ही सेवाएं प्रदान करके उन्होंने सफलता हासिल करी। केवल जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे दुनिया के सबसे अमीर देशों में ही बीमा और प्राइवेट स्वास्थ्य व्यवस्था द्वारा सार्वजनिक सेवाएं प्राप्त हैं। नॉर्डिक देशों में (यानि नॉरवे, स्वीडन और फिनलैण्ड में) वेल्फेयर मॉडल सबसे परिपक्व व सराहनीय हैं। इन देशों में पूर्णतः सरकारी सेवाएँ सब को पहुँचती हैं। इनकी व्यवस्था अमीर देशों में सब से कम खर्चीली व अधिकतम प्रभावशाली है। परन्तु यह छोटी व लगभग एकात्मता वाली आबादी के समाज हैं। इनके अनुभव से सीख ले सकते हैं परन्तु मॉडल तो अपने ही गढ़ने पड़ेंगे।

अब यह भी स्पष्ट है कि डाक्टरी इलाज सतत् मंहगा होता जा रहा है और अमीर से अमीर देश परेशान हैं। सबसे अमीर माने जाने वाले देश अमरीका को ही देखें।

यूरोप और अमरीका के 2008–09 की आर्थिक मंदी (रिसेशन) में कंपनियों, जैसे कि फॉर्ड कम्पनी, के अपने कर्मचारियों के मेडिकल बिलों का भी उन्हें कंगाली की ओर ले जाने में योगदान रहा था। श्री ओबामा और उससे पहले श्री बिल क्लिनटन के सभी अमेरिकी नागरिकों को स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने की कोशिशें कैसे नाकाम रहीं यह सब जानते हैं।

कुछ वैज्ञानिक आंकलन बता रहे हैं कि सन् 2030 तक अमरीका का मेडिकल खर्च देश की सकल आय का 20 प्रतिशत हो जाएगा। वहां की व्यवस्था मूलतः प्राईवेट सेवाओं पर आधारित है। और सारा खर्चा इंश्योरेन्स द्वारा उठाया जाता है। आमतौर पर प्राईवेट अस्पताल हैं जिन्हें दुनिया के सबसे बेहतरीन इलाज वाला माना जाता है और जहां हमारे शीर्ष नेता व उद्योगपति इलाज के लिए जाते हैं। हम अपनी स्वास्थ्य व्यवस्था को उसी ओर धकेल रहे हैं। परन्तु अनेक विश्लेषण बताते हैं कि यह सबसे मंहगा व अन्य अमीर देशों की तुलना में स्वास्थ्य की स्थिति बेहतर करने में सबसे कम कामयाब व्यवस्था है। चौंकाने वाले आंकड़े ये हैं कि अमरीका में 'कंगाल' घोषित होने वाले व्यक्तियों में मेडिकल खर्च का बड़ा योगदान है, और एक विश्लेषण ने पाया कि इनमें 75 प्रतिशत ऐसे थे जो

मध्यम वर्गीय थे और जिनके पास स्वास्थ्य बीमा था। क्योंकि इंश्योरेन्स पर मूलतः हर एक को अपनी जेब से खर्चना होता है, इसलिए 20–30 प्रतिशत आबादी इलाज नहीं पा पाती। उनके लिए सरकारी 'मेडिकएड' और 'मेडिकेयर' कार्यक्रम व स्वास्थ्य केन्द्र चलाए जाते हैं।

खर्च की बात एक ओर रख दें और डाक्टरी ज्ञान व तकनीकी की बात पर आएं तो दो तथ्य देखें जो आम चर्चा में नहीं आते। अमेरिका में डाक्टरी इलाज जनित बीमारी व मृत्यु ने भयावह पैमाना छू लिया है। मृत्यु के प्रमुख दो कारणों –हृदय रोग और कैंसर–के बाद 'आईएट्रोजेनेसिस' यानि इलाज जनित बीमारी, तीसरे नंबर पर आती है। सभी आंकलन उसे पहले 10 कारणों में से एक तो बताते ही हैं। जब यह वहां की 'सबसे बढ़िया' व्यवस्था का नतीजा है तो हम अपने जैसे अविनियमित (अनरेगुलेटिड), व्यवस्था से क्या उम्मीद करें? ईवान इलिच ने 1970 के दशक में इसे शारीरिक 'आइट्रोजेनेसिस' कहा था। साथ ही उन्होंने 'सामाजिक आइट्रोजेनेसिस' व 'सांस्कृतिक आइट्रोजेनेसिस' की अवधारणा भी दी। कैसे यह डाक्टरी ज्ञान सामाजिक रिश्तों को नज़रअन्दाज करता है और डाक्टरी व्यवस्था सामाजिक रिश्तों को कमजोर करती है। कैसे विभिन्न संस्कृतियों को कमजोर करती है – उनकी खाने–पीने, रहन–सहन, स्वास्थ्य वर्धन के तौर–तरीकों की वैधता खत्म करती है।

दूसरा तथ्य है कि अमेरिका के आधिकारिक सर्वेक्षण ने 2007 में पाया कि 38 प्रतिशत व्यस्क लोग ऐलोपैथी के अलावा अन्य पद्धतियों का इस्तेमाल करते हैं। विभिन्न प्रकार की पद्धतियों को 'कॉप्लिमेन्ट्री एण्ड ऑल्टरनेटिव मेडिसन' नाम से आज के तन्त्र ने पहचान भी दी है, उनपर शोध भी चल रहा है और एमबीबीएस के पाठयक्रम में भी उसे औपचारिक स्थान दिया गया है। जब अमेरिका में ये परिस्थिति है तो हमारे यहां जो ज्ञान पद्धतियों व परम्पराओं की बहुलता है, उसे हम क्यों अवैध मान बैठे हैं ?

स्वास्थ्य ज्ञान बहुलता की वैधता

आधिकारिक तौर पर डाक्टरी एलौपैथी के अलावा हमारे देश में सात पद्धतियों को मान्यता प्राप्त है जो दुनिया में और कहीं नहीं है। पिछली शताब्दी के शुरूआती दशकों से ही इन 'भारतीय पद्धतियों एवम् होम्यियोपैथी' को ऐलोपैथी की 'मुख्यधारा' से जोड़ने की या 'एकीकृत' (इंटिग्रेट) करने की बात कही जा रही है। परन्तु 1950 से जो मॉडल सरकार ने नियोजित या इन्हें स्वास्थ्य सेवाओं के विकास के लिए अपनाया उसमें अन्य पद्धतियों का कोई स्थान नहीं था। राजनैतिक दबावों के चलते मान्यता तो दी गई परन्तु सरकारी व्यवस्था में उन्हें कभी गंभीरता से नहीं लिया गया। तभी तो आज तक उन सभी 7 को कुल मिलाकर 3 प्रतिशत से कम ही स्वास्थ्य बजट का हिस्सा दिया गया। ज्ञान पद्धतियों के 'एकीकरण' के नाम पर आयुष के स्नातकों के पाठ्यक्रम में आधुनिक अनैटोमी, फिज़ियोलॉजी और फ़ार्माकालॉजी पढ़ाई जाने लगी और इन पद्धतियों की कारगरता जाँचने के लिए गैर–तार्किक ढंग से आधुनिक ज्ञान की कसौटियाँ लागू की गईं। इससे इन ज्ञान पद्धतियों पर भरोसा कम ही हुआ, बढ़ा नहीं।

तालिका 2 :

सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था में ऐलोपैथी और आयुष सेवाएं

क्रम संख्या	आधुनिक ऐलोपैथिक पद्धति	केवल आयुष
1. स्वास्थ्य सेवा सरंचना	उपकेन्द्र = 1,46,036	सामुदायिक सेवाएं (संस्थान से बाहर) = 0
	प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र = 23,458	दवाखाने (डिस्पेंसरीज़) = 22,312
	सामुदायिक केन्द्र + ग्रामीण अस्पताल = 6281 शहरी अस्पताल = 3115	अस्पताल (हॉस्पिटल) = 3378
	शैय्या (ग्रामीण) = 1,43,069 शैय्या (शहरी) = 3,69,351	शैय्या = 68,155
2. कॉलेज	मेडिकल कॉलेज = 300 वार्षिक छात्र दाखिल क्षमता = 34,595	कुल आयुष कॉलेज संख्या = 492 वार्षिक छात्र दाखिल क्षमता = 30,086
3. कुल स्वास्थ्य बजट का वितरण	स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग = 90% राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन =4% स्वास्थ्य अनुसंधान विभाग =3%	आयुष विभाग = 2.7%

स्रोतः रितु प्रिया, 2011, एम.एफ.सी. बुलेटिन 345–347, www.mfcindia.org

बड़ी संख्या में विभिन्न राज्यों में डिस्पेंसरी और अस्पताल खुले, और कुल मिलाकर हर साल उनके लगभग तीस हजार स्नातक तैयार किए जाते हैं जो संख्या एमबीबीएस स्नातकों के करीब ही है। परन्तु इन सब सेवाओं व कॉलेजों के लिए मात्र 3 प्रतिशत बजट है तो उनकी गुणवत्ता की क्या उम्मीद हो सकती है? फिर इन टूटी–फूटी डिस्पेंसरियों में कोई मरीज़ आता नहीं तो इससे वैधता पर और प्रश्नचिन्ह लग जाते हैं। जो स्नातक तैयार होते हैं वह अपने ज्ञान के प्रति खुद हीन भावना से ग्रस्त रहते हैं।

परन्तु विडम्बना यह है कि इस ज्ञान की वैधता दुनिया भर में बढ़ रही है। अमेरिका में मेडिकल शोध के शीर्ष पर वैज्ञानिकों व डाक्टरों की एक प्रमुख धारा 'साईको–न्यूरो–इम्यूनॉलोजी' का नया विषय इजाद कर, परम्परागत ज्ञान के सिद्धान्तों के करीब पहुंच रही है। यह दिमाग के बुद्धि व मन का पक्ष, दिमाग के शारीरिक तन्तु–तन्त्र व बीमारी से बचाव के तन्त्र, तीनों के बीच रिश्ता समझने की कोशिश है जो आधुनिक विज्ञान के बुद्धि, मन और शरीर को अलग–अलग करके जाँचने के सिद्धान्त व प्रथा के विपरीत जा रही है। 'सिस्टम्स बाईलॉजी' मुख्यधारा के परम्परागत जीव विज्ञान (यानि

'आधुनिक' ज्ञान की परम्परागत बाईलॉजी) से फर्क सिद्धान्त गढ़ रही हैं। शरीर के तन्त्रों को अलग–अलग करके देखने के बजाय अलग–अलग तन्त्रों के आपसी रिश्तों पर अब 'सिस्टम्स बाईलॉजी' की धारा शोध कर शारीरिक प्रक्रियाओं को समग्रता से समझने का प्रयास कर रही है। आयुर्वेद में हर व्यक्ति की विशेष 'प्रकृति' की अवधारणा को उनके 'जीन्स' से मिलान किया गया है।

परन्तु आज भी जब इन ज्ञान पद्धतियों को ज्यादा महत्व देने की बात उठाई जाती है तो नीति निर्धारक व अफसर पूछते हैं – इनके असरकारक होने के वैज्ञानिक सबूत कहां हैं? अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार व इंडस्ट्री के इन पद्धतियों की तकनीकी पर पैटेन्ट की कोशिशों के खिलाफ तो इस ज्ञान के बचाव में वह खड़े हो जाते हैं; परन्तु उस तकनीक के पीछे के विज्ञान को नहीं मानने को तैयार।

जो अब सरकारी शब्दावली में 'आयुष' कहलाती हैं यह सब पद्धतियां तो शास्त्रीय ज्ञान पद्धतियों व उनके संस्थाकरण का हिस्सा हैं। इनकी भी अपनी 'इंडस्ट्री' और बाजार बनते–बदलते जा रहे हैं जिनको सरकार का प्रोत्साहन मिल रहा है।

दूसरा बड़ा हिस्सा 'लोक ज्ञान' का है। यह बाजार के बाहर का ज्ञान है जो लोग खुद घर, गांव, बस्ती, समुदाय में जानते, इस्तेमाल करते, घटाते–बढ़ाते और सुधारते–मांझते रहते हैं। घरेलू इलाज गांव में ही नहीं शहरों और मध्यम वर्ग में भी प्रचलित हैं। और स्थानीय जड़ी–बूटी की औषधीय गुणों का ज्ञान प्रकृति के सबसे करीब रहने वालों से ज्यादा किसके पास हो सकता है – आदिवासी, जंगल में रहने वाले अन्य समुदाय गड़रिए और खेतिहर लोग इनके मूल स्रोत व आधार रहे हैं। परन्तु इन्हीं को हम सबसे अज्ञानी, निरक्षर और जाहिल मानते हैं।

मुनाफे की भूख ने आज फिर इस ज्ञान की याद दिलाई है और आधुनिक दवा इंडस्ट्री 'बायो–प्रोस्पेक्टिंग' कर इन समुदायों का ज्ञान उधारती है। उससे नए केमिकल आसानी से 'खोज' लेती है और 'नई' दवाएं बनाती है। मगर कहीं भी इनके ज्ञान को अपना आभार प्रकट नहीं करतीं। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय 'बौद्धिक संपदा अधिकार' (आई.पी.आर.) के तहत मुनाफा बांटने पर चर्चा तो है। परन्तु इस ज्ञान के नियमों को नजरअंदाज कर क्या उसकी कीमत किसी एक व्यक्ति या समुदाय को चुकाई जा सकती हैं? बड़ी पेचीदा परिस्थिति बन गई है, क्योंकि पेटेंट व्यक्तिपरक शोध व ज्ञान अर्जन की अवधारणा पर आधारित है और लोक–ज्ञान सामूहिकता पर आधारित है। अगर लोक–ज्ञान को पेटेंट से बाहर रखें तो इंडस्ट्री उसे लील लेगी और अगर उसमें घुसें तो सामूहिक तौर पर कैसे?

लोक ज्ञान और सशक्तीकरण/स्वराज की ओर

फिर वापिस आएं आज इस लोक ज्ञान की भूमिका और औचित्य पर। पहले कुछ उदाहरण देखेंगे और फिर लोक सशक्तीकरण 'ज्ञान स्वराज' के लिए संभव कदम पर चर्चा

करेंगे। ऐलोपैथी की कुछ प्रचलित प्रथाओं के विवादित मुद्दों से जुड़े महिला स्वास्थ्य के कुछ उदाहरण लोक ज्ञान पद्धति की वैधता के महत्व को उजागर करते हैं।

लोक परम्पराओं की वैधता

हमारे दलित व आदिवासी समूहों के पास विशेष ज्ञान रहा ही है, जो आज भी उनके जीवन का हिस्सा है। देश के विभिन्न भाग में उनकी स्वास्थ्य की समझ व तौर–तरीकों के शोध इनके महत्व को दर्शाते हैं। मेरे अपने शोध इस बात को पुष्ट करते हैं। 2008–09 में 18 राज्यों में सरकारी 'आयुष' सेवाओं व उनके इस्तेमाल के सर्वे में पाया कि आज भी बड़े पैमाने पर दाई की सेवाएं ली जाती हैं। डाक्टरी इलाज के साथ–साथ घरेलू इलाज व लोक चिकित्सकों से इलाज कराया जाता है। और यह केवल गरीब, ग्रामीण या दूर–दराज़ के इलाकों की बात नहीं है। शहरी, खाते–पीते परिवार भी इनका आसरा लेते हैं, और वह नई पीढ़ी जिस तक यह ज्ञान सामान्यतः पहुंचा नहीं क्योंकि उनके पढ़े–लिखे माता–पिता ने इसे पिछड़ापन मानकर त्याग दिया था, वह भी इसे सीखने–जानने को उत्सुक हैं।

दिल्ली में 2013 में तीन तबकों – बेघर, गरीब बस्ती व मध्यम वर्गीय कॉलोनी – में किए गए सर्वेक्षण में पाया कि लगभग 40 प्रतिशत बीमारियों में लोगों ने घरेलू इलाज व आहार बदला, इसमें से आधे, यानि 20 प्रतिशत को इसके बाद किसी और इलाज़ की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाकी 80 प्रतिशत बीमारी में लोग बाहर इलाज के लिए गए, जिसमें 10 प्रतिशत ने किसी परम्परागत पद्धति का इलाज लिया व 70 प्रतिशत ने ऐलोपैथी का। ऐलोपैथी लेने वालों में लगभग 30 प्रतिशत ने औपचारिक डाक्टर या अस्पताल से इलाज लिया और 40 प्रतिशत ने गैर–एम.बी.बी.एस. झोला छाप डाक्टर या दवा की दुकान से। यानि केवल 30 प्रतिशत बीमारी में वैध ऐलोपैथिक चिकित्सक से इलाज लिया गया और इस औपचारिक इलाज लेने वालों में 70 प्रतिशत मध्यम वर्गीय लोग थे, गरीब तबकों में तो केवल 30 प्रतिशत ने इनसे उपचार कराया। इस का कारण गरीबी है या मध्यम वर्ग की निर्भरता ?

एक सड़क चौराहे पर भीख मांगने वाली लगभग साठ वर्षीय महिला की बात भूलती नहीं। वह 25 साल पहले बिहार से काम की खोज में दिल्ली पहुंची थीं और अपनी तीन बेटियों के साथ दक्षिण दिल्ली के आर.के. पुरम में झुग्गी बनाकर रहती थीं। एक बाँह कट जाने के कारण भीख माँगना ही उनका पेशा बन गया था। अब उनकी तीन बेटियों की शादी के बाद आठ बच्चे हैं। एक विधवा होने के कारण और बाकी दो प्रताड़ना न सहने के कारण तीनों वापिस माँ के पास आ गई हैं। उनमें से एक अब उनकी झुग्गी–बस्ती की 'प्रधान' भी है। तो तीन बेटियों और नाती–नातिनों की जिम्मेवारी सम्भालती यह प्रवासी महिला बताती हैं कि कैसे उन्होंने जड़ी–बूटी की अपनी जानकारी के सहारे बच्चों का इलाज कर उन्हें पाला। कैसे वह बस–स्टेन्ड के पीछे फलां पौधे के पत्ते लाती थीं, मलाई मन्दिर के पास से कौन सी जड़ें मिल जाती थीं और 3–4 किलोमीटर दूर लाडो सराय से वह कौन से पौधे ढूंढ लाती थीं। पर फिर उन्होंने कहा कि "पर अब तो डाक्टर के

पास ही ले जाते हैं”। इसका कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि पक्के फुटपाथ और मकान बढ़ते जाने से पौधे मिलने मुश्किल होते जा रहे हैं। अन्त में जो उन्होंने दुखी मन से कहा, जितना मार्मिक था वह उतना ही चिन्ताजनक भी। उन्होंने अपनी छाती पर हाथ रखते हुए कहा कि ”अब डाक्टर के ही ले जाते हैं क्योंकि अब हमने अपने पर विश्वास खो दिया है”।

अठारह राज्यों के 2008–09 के सर्वेक्षण में हमने पाया था कि आम लोगों की घरेलू नुस्खों की जानकारी का 75–80 प्रतिशत हिस्सा परम्परागत शास्त्रीय पद्धतियों, यानि आयुर्वेद, यूनानी या सिद्ध के शास्त्र व सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतरता है। यानि, अगर इस ज्ञान को वैध मानें तो लोक–ज्ञान आज भी एक बड़ी धरोहर है। इसी सर्वेक्षण ने पाया कि सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों व जिला अस्पताल में कार्यरत ऐलोपैथिक डाक्टरों में 77 प्रतिशत मानते हैं कि ”अन्य पद्धतियों में भी कुछ तो फायदेमंद है”। 50 प्रतिशत से अधिक ने बताया कि वह अपने मरीजों को खुद अन्य पद्धतियों से ली जानकारी के आधार पर सलाह देते हैं या दूसरी पद्धति के जानकार के पास जाने की सलाह देते हैं। परन्तु यह सलाह कभी लिखित नहीं होती। वह मुंहज़बानी ही होती है, शायद इसलिए कि यह ‘अवैध’ हरकत व अपनी पद्धति से गद्दारी मानी जाएगी। उनके पास अन्य जानकारी आई कहाँ से? एमबीबीएस के पाठ्यक्रम में तो, अनेक प्रयासों के बावजूद, मेडिकल कांउन्सिल ऑफ इंडिया (एम.सी.आई.) ने इनपर 10 घंटे की पढ़ाई भी नहीं होने दी। यह जानकारी तो उन्हें अपने परिवार व सामाजिक जीवन से मिली, और कुछ को मरीजों के अनुभव से।

ऐलोपैथी तन्त्र द्वारा भूल सुधार

लोक ज्ञान को अवैध मानने की मानसिकता के कारण बीसवीं सदी में गलतियाँ हुई हैं। और अब ऐलोपैथिक विज्ञान तन्त्र भी इन्हें मान रहा है। दो–एक उदाहरण से इसे बेहतर समझा जा सकता है।

उल्टी–दस्त में पुनर्जलन व इलाज

उल्टी–दस्त गरीब देशों व समुदायों में बच्चों की मृत्यु का प्रमुख कारण रहा है और आज भी है। डाक्टरों व स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने सबसे पहले माँओं की ‘गैर–जानकारी’ व गलत तौर–तरीकों पर निशाना साधा और कहा कि वह इलाज दिलवाने में देर कर देती हैं व बच्चे को पानी–खाना–दूध देना बन्द कर देती हैं इसलिए बच्चे मरते हैं। बच्चे जल्दी हमारे पास लाएँ तो हम एंटीबायोटिक व खून में बोतल बंद पेय देकर उन्हें बचा सकते हैं। कितनी माँओं ने इस नाम पर कितनी डाँट और कितनी बेइज़्ज़ती सही है वो ही जानती हैं। फिर सत्तर के दशक में विश्व स्वास्थ्य संगठन के बंगलादेश सेंटर में स्थित ‘इजाद’ हुआ ‘पुनर्जलन पेय’, जो स्वास्थ्य के क्षेत्र में शताब्दी की सबसे बड़ी क्रांतिकारी खोज मानी गई। यह खोज थी कि अधिकाँश उल्टी–दस्त के मरीजों में बीमारी स्वतः ठीक हो जाती है, बस शरीर को निर्जलन

से बचाना ज़रूरी है व बच्चे के पोषण का ध्यान रखना। ऐंटीबायोटिक की आवश्यकता नहीं होती और लोमोटिल जैसी लंगहन वाली दवाएँ तो उल्टा नुकसान करती हैं क्योंकि वह कीटाणुओं को बाहर नहीं निकलने देतीं और बीमारी ज्यादा लम्बी चल जाती है।

'पुनर्जलन पेय' का तरीका तैयार किया गया 'जो माएँ' खुद कर सकें। तो बोतल चढ़ाने के बजाए पैकेट में घोल के लिए विभिन्न प्रकार के नमक का मिश्रण तैयार किया गया और उसे उबले पानी में सही मात्रा में घोल पर पिलाने की सीख माँओं को दी गई। अगर पैकेट न मिल सके तो उन्हें एक चुटकी नमक और चीनी का घोल बनाने की विधि भी सिखाई गई। पुनर्जलन के इस अभियान से सीख मिली कि बच्चे पुनर्जलन से मरने कम हो गए परन्तु कुपोषण के शिकार हो गए। तब परम्परागत पुनर्जलन पेय की ओर ध्यान गया, जैसे कि चावल का पानी, नारियल पानी और पतली खिचड़ी इत्यादि। तो फिर अभियान शुरू हुआ माँओं को उन्हीं के छुड़वाए हुए घरेलू पेय दोबारा उन्हें सिखाने का।

तब से यह विवाद बार–बार उभरता रहता है कि बोतल चढ़ाना बेहतर है क्योंकि वह डाक्टर के नियंत्रण में है या पेय द्वारा पुर्जलन। पेय में पैकेट बेहतर है या नमक–चीनी का घोल या परम्परागत पेय। मैंने जो अस्सी के दशक में गोरखपुर के गाँव घूमते हुए देखा था उससे बेहतर पेय नहीं पाया है – वहां महिलाएँ गुड़–सौंफ का काढ़ा बनाकर पिलाती थीं– गुड़ अनेक प्रकार के लवण व चीनी का भण्डार, हल्दी तो अब विश्व–प्रख्यात संक्रामक रोगों की काट मानी जाती है और सौंफ पाचक है। परन्तु तब वहां की डाँट खाई महिलाएँ संकोच से ही यह नुस्खा बताती थीं।

चावल का पानी, पुनर्जलन पैकेट से पेय, डाक्टर की दवा और बोतल अलग–अलग स्थितियों में अलग–अलग जरूरी हैं इसलिए सभी आवश्यक हैं। किस तरीके का कब और कैसे इस्तेमाल हो यही तर्कसंगत व्यवस्था में जानने–समझने की क्षमता चाहिए। साथ ही बीमारी की रोकथाम के लिए साफ पानी, शौच का इन्तजाम, पोषण आदि पर प्रमुख ध्यान रहना चाहिए।

महिला स्वास्थ्य और अस्तित्व

महिला स्वास्थ्य का आज के प्रचलित शब्दकोष में मतलब हो गया है प्रजनन तन्त्र सम्बन्धी स्वास्थ्य। 'रीप्रोडक्टिव एण्ड चाइल्ड हेल्थ' कार्यक्रम के तहत ही महिला स्वास्थ्य को देखा जा र हा है। इस प्रकार आधुनिक स्वास्थ्य व्यवस्था महिला के अस्तित्व को मातृत्व से जोड़ कर ही देख रही है। युवतियों के स्वास्थ्य पर ध्यान गया ताकि उन्हें 'मातृत्व के लिए तैयार कर सकें' और इसलिए उन्हें आँगनवाड़ी से पोषण व लोहे की गोली दी जाने लगीं। महिला आंदोलन समूहों के विरोध के बावजूद, और 'महिला सशक्तीकरण' के वर्तमान विकास के प्रमुख नारे के बावजूद यह व्यवस्था सशक्तीकरण की सोच को सामाजिक जकड़न से निकाल नहीं पा रही, शायद इसीलिए कि वह खुलेपन और गैर–बाज़ार की व्यवस्था वाली मानसिकता से नहीं, केन्द्रित ज्ञान व स्थापित तन्त्र की पकड़ को ही उचित मानती है।

सामाजिक रिश्ते को मज़बूत करने की स्वास्थ्य तकनीकी

कई परम्पराओं में एक व्यापक परम्परा है बुआ द्वारा स्तन की सफ़ाई करने के बाद ही नवजात शिशु को माँ का दूध पिलाना। यह परम्परा पितृसत्ता की प्रतीक माना जा सकता है, परन्तु वह ससुराल में सहउम्र महिलाओं के बीच जिम्मेवारी का रिश्ता प्रगाढ़ करने का तरीका भी है।

साथ ही पहले बुआ बच्चे को शहद चटाती है। कितनी बार मैंने इस प्रथा का प्रतिवाद होते सुना है। अस्पताल में नर्से और डाक्टर ताना मारते अक्सर सुने हैं – 'यह भी शहद लेकर आ गई' और फिर ऐसी बेइज़्जती से डाँटते थे। आज आधुनिक विज्ञान बताता है कि शहद संक्रमण से सबसे सुरक्षित ही नहीं, संक्रमण विरोधी गुण भी रखता है। परन्तु नर्स–डाक्टर यही मानते हैं इसे चटाने से बच्चे को संक्रमण लग कर उल्टी–दस्त होने लगेगा।

दाई, जाति प्रथा और 'गन्दा काम' व मातृ मृत्यु

सबसे बड़ी जंग जो आज लड़ी जा रही है वो है मातृ मृत्यु दर कम करने की। सभी महिलाओं को 'सुरक्षित' मातृत्व के लिए अस्पताल या स्वास्थ्य केन्द्र में ही बच्चा पैदा करना चाहिए। इसी मुहिम के चलते जननी सुरक्षा योजना व जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं जिनके तहत हर जच्चा को जो मेडिकल संस्था में बच्चा कराए सरकार की तरफ से आने–जाने का व अन्य सभी खर्च दिया जाएगा और मुफ्त सेवाएं भी। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस कार्यक्रम के आठ–नौ साल बाद भी लगभग 30 प्रतिशत बच्चे घर पर ही पैदा हो रहे हैं। विभिन्न शोध दिखाते हैं कि स्वास्थ्य केन्द्रों व अस्पताल में भी दाइयाँ प्रजनन में आज भी मदद कर रही हैं। जो घर में जन्म हो रहे हैं उनमें तो वह रहती ही हैं।

आधुनिक स्वास्थ्य व्यवस्था उन्हें व उनके ज्ञान को कैसे देखती है, अन्य समाज उसे कैसे देखता है, और वह खुद कैसे देखती हैं?

बीसवीं सदी की शुरूआत से मातृ–मृत्यु कम करने के लक्ष्य से दाइयों को ट्रेनिंग दी जाने लगी। उन्हें बताया गया कि साफ–सफाई कैसे रखी जाए और थोड़े भी खतरे का लक्षण होने पर डाक्टर के पास भेजें। डाक्टर स्वास्थ्य व्यवस्था बहुत ही अपर्याप्त होने के कारण यह मजबूरी का उपाय अपनाया गया। दाई को अनपढ़, गंवार और संक्रमण का स्रोत ही माना गया। उनका भी कोई ज्ञान व उनके हाथ में हुनर है, यह तो सोचा ही नहीं गया और हर मातृ मृत्यु को उनकी वजह से देरी या उनके द्वारा गलत प्रक्रिया माना जाता रहा है।

यह सोच महिलाओं के अनुभव व दाइयों के साथ हुए शोध की जानकारी से बिल्कुल तालमेल नहीं खाती। दाइयों की प्रजनन के बारे में जानकारी और दिक्कत होने पर उसको हल करने का हुनर भी है। कोई दाई ज्यादा जानकार होती है, कोई कम। आज कुछ ऐसी

समस्याएँ होती हैं जिन्हें ऑपरेशन के बिना या खून चढ़ाए बिना हल नहीं किया जा सकता और वह जानलेवा होते हैं। ऐसे में दाई से लेकर अस्पताल की जरूरत है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार जन्म देने के दौरान 10–15 प्रतिशत को ही इस प्रकार की कठिनाई पेश आती है। यानि 85 प्रतिशत सामान्यतः घर पर ही हो सकते हैं। सामान्य समस्याओं को दाइयाँ सुलझा सकती हैं और स्वास्थ्य केन्द्र या अस्पताल तक जरूरत पड़ने पर तुरन्त पहुंचाने व वहां सेवाएं देने की क्षमता होना ज़रूरी है।

महिला आन्दोलन ने हमेशा इसका विरोध किया है। महिला के अपने परिवेश, अपने प्रियजनों व विश्वासपात्र व्यक्तियों के बीच यह समय बिताना व जीवन का अपना एक महत्वपूर्ण पड़ाव पार करना उनकी इच्छा है। दाइयों व प्रकृति के करीब समाजों की कई मान्यताएँ महिला की शक्ति और प्रकृति की सहयोगी भूमिका को जोड़ती हैं।

परन्तु लोक ज्ञान को जानने की कोशिश बिना व खतरे की मानसिकता से ग्रसित आधुनिक व्यवस्था सब महिलाओं को खींचकर अस्पताल ले जा रही है। यह असुरक्षा का भाव बढ़ाती है घटाती नहीं है। इस असुरक्षा के भाव द्वारा मेडिकल इंडस्ट्री अपना वर्चस्व बनाती है। फिर अपनी सुविधा और मुनाफ़े के लिए सामान्य प्रक्रिया के बजाए सिज़ेरियन ऑपरेशन से जन्म की सँख्या बढ़ती जा रही है। अब मुम्बई–दिल्ली जैसे शहरों में खास 'प्रजनन बुतीक' हैं जो बिना दर्द के ऑपरेशन द्वारा बच्चा भी कराएँगी, आपकी पसन्द की कमरे की सजावट व सुगन्ध भी देंगी और पंचांग के अनुसार 'सही' समय पर बच्चे का जन्म सुनिश्चित करेंगी। बस चाहिए तो बैंक बैलेंस। डाक्टरी ज्ञान के अलगाम तन्त्र और उपभोगवाद के बीच की तार गांधीजी ने हिंद स्वराज लिखते समय 1909 में ही देख ली थी।

मुझे याद आती है राम प्यारी, एक राजस्थानी महिला जो दिल्ली में, निर्माण मज़दूर थी। उसने बताया था कि जब उसके बच्चे गांव में हुए थे वो दर्दें शुरू होने पर जंगल में चली जाती थी। उसे वहां एकान्त में पेड़–पौधों के बीच शान्ति मिलती थी। जब दर्द बढ़ जाते तो वापिस घर आकर दाई को बुलवा लेती। उसके तीनों बच्चे वहां आसानी से हो गए थे। दिल्ली में झुग्गी–झोपड़ी बस्ती में भी उसने दाई को बुलवाकर बच्चा जना, पर उसके मन में वैसा विश्वास और शांति नहीं थी। वह लापरवाह औरत नहीं थी। उसने बच्चा होने के छः महीने बाद तक काम नहीं किया "ताकि माँ और बच्चा दोनों की ताकत बन जाए"। और यह तब जब वह गाँव छोड़कर वहाँ कमाने को ही बैठी थी, पर दोनों के स्वास्थ्य की खातिर उसने कर्ज़ा चढ़ाना कबूल किया, काम पर जाना नहीं।

'गंदा काम छोड़ने की लड़ाई' इस चमार जाति ने 1920 के आस–पास लड़ी थी। चमड़े का काम तो छोड़ दिया पर महिलाओं ने दाई का काम नहीं छोड़ा, इसीलिए कि उन्हें इस काम से समाज में एक महत्व का स्थान मिलता है।

बहुलतावादी स्वास्थ्य व्यवस्था : समय की मांग

इस प्रकार वैध ऐलोपैथी ज्ञान के वैध डाक्टर भी बहुलतावाद को मान रहे हैं, आम लोग भी उसे जी रहे हैं। फिर भी बहुलतावाद को औपचारिक वैधता नहीं मिल रही है। सवाल है कि इस दोगलेपन को हम अपने समाज में क्यों पाल रहे हैं। फायदेमंद और लोक शक्तिकरण के स्रोत वाले ज्ञान को अवैध क्यों बना बैठे हैं? मान लें कि 1940–50 के दशकों में अंधविश्वास भी व्याप्त था और टी.बी. की दवाएं, मलेरिया के लिए दवाएं व कीटनाशक इत्यादि द्वारा उम्मीद बंधी थी कि मेडिकल ज्ञान व तकनीकी द्वारा देश की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। इसलिए परम्परागत पद्धतियों को नज़रअंदाज़ किया गया। परन्तु अब, छः–सात दशकों के अनुभव के बाद हम उसकी कमियां भी जानते हैं। ज्ञान की वैधता की कसौटियां अगर अब भी हम औपनिवेशिक और व्यापारिक चश्मों से ही देखेंगे तो समाज व उसके स्वास्थ्य की नींव मजबूत कैसे बनेगी? आत्म–विश्वास सहित विभिन्न ज्ञान पद्धतियों, जिसमें परम्परागत और आधुनिक पश्चिमी व स्थानीय, दोनों शामिल रहें, की ताकत का विश्लेषण करके एक आज के समाज के लिए मौजू अंतर्जात–अन्तः विकसित स्वास्थ्य व्यवस्था कैसे बना सकते हैं? इस ओर बढ़ने के लिए सरकार और समाज, दोनों की अलग–अलग क्या भूमिका हो सकती है, और दोनों के बीच कैसा तालमेल बने?

'सबके लिए स्वास्थ्य' का नया मॉडल : ज्ञान स्वराज की ओर

आज भी हमारे यहां विविध परम्पराएं जीवन्त हैं, इसलिए यूरोप व अमरीका के मुकाबले हमारे देश में 'सबके लिए स्वास्थ्य' का फर्क मॉडल ज्यादा आसानी से संभव है। यह नया मॉडल कम खर्च, पर्यावरण के अनुकूल और अधिक लोक शक्तिकरण वाला सिद्ध हो सकता है।

आम लोगों को सबसे करीब कारगर इलाज मिल सके मेडिको फ्रेण्ड सर्कल की चर्चाओं से उभरते ऐसे मॉडल को गढ़ने के सिद्धान्त निम्नलिखित मानें :

1. आम लोगों के तर्कसंगत व्यवहार व लोक ज्ञान से शुरू करें। जहां जब वह पर्याप्त न हों तभी संस्थागत सेवाओं के लिए जाना पड़े।
2. घर और समुदाय–गाँव–बस्ती में घरेलू इलाज, लोक चिकित्सक, आँगनबाड़ी कार्यकर्ता व 'आशा' प्रथम स्तर का स्वास्थ्य संवर्धन करने में परिवारों की मदद करें। यह ग्राम स्वास्थ्य स्वच्छता व पोषण समिति के अन्य सदस्यों सहित यह एक महिला–प्रधान टीम बन जाती है जो कुछ जगह प्रभावकारी काम करती पाइ जा रही है।
3. इनके काम को लोक–ज्ञान की नींव पर खड़ा करने के लिए स्थानीय लोक चिकित्सकों का जड़ी–बूटी का ज्ञान महत्वपूर्ण धरोहर है। इसे संजोने व पुष्ट करने के लिए संस्थागत सहयोग की आवश्यकता है। स्थानीय ज्ञान व प्रथाओं को लिपिबद्ध कर उनकी कारगरता जाँचने व उनके लिए आवश्यक जड़ी–बूटी की उपलब्धता

सुनिश्चित करने के लिए जिला स्तर पर 'जिला स्वास्थ्य स्वराज केन्द्र' बनाया जाना चाहिए। यह केन्द्र स्वास्थ्य उपकेन्द्र व प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में स्थानीय जड़ी–बूटी उगाने व उसके उपयोग को बढ़ावा देने का काम करे। साथ ही वह अन्य परम्परागत स्थानीय ज्ञान व हुनर, जैसे खेती, हस्तशिल्प इत्यादि के साथ भी तालमेल के लिए काम कर सकता है।

सरकारी तन्त्र में लोक

'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' (एन.आर.एच.एम.), जो अब राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन कहलाता है, के तहत स्थानीय जड़ी–बूटी स्वास्थ्य केन्द्रों में उगाने का प्रावधान भारतीय पब्लिक हेल्थ स्टैण्डर्ड (आई.पी.एच.एस.) का अनिवार्य भाग है। परन्तु किसी राज्य ने इस मानक को पूरा नहीं किया है।

'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' के ही तहत हर स्तर पर ऐसी व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय लेने वाली समितियाँ हैं जिनमें डाक्टर व प्रशासक के अलावा पंचायत, कॉरपोरेशन व असेम्बली में चुने हुए प्रतिनिधि, गैर–सरकारी संगठन व समुदाय के गणमान्य सामाजिक व्यक्तियों के लिए स्थान सुनिश्चित है। जहां सामाजिक समूहों ने इनमें सक्रिय दखल देकर लोगों की जरूरत और नज़रिए अनुसार निर्णय करवाए हैं वहां सेवाओं में सुधार नज़र आने लगते हैं। साथ ही सामुदायिक निगरानी और नियोजन के प्रयास भी हुए। नौ राज्यों में 'पायलट' आधार पर चलाए गए, परन्तु केवल दो में वह आगे बढ़ पाए। महाराष्ट्र और तमिलनाड में वह स्वयंसेवी समूहों की सक्रियता की वजह से बड़े पैमाने पर सफलतापूर्वक चल पाए हैं। इसलिए व्यवस्था में हर लोकतान्त्रिक सम्भावना का पूर्ण प्रयोग करने के लिए लोग आगे आएँ और संगठित प्रयास करें। स्वास्थ्य स्वराज की यह एक कड़ी होगी। इसको और कारगर तब बना पाएंगे जब अपना विश्वास लोक–ज्ञान में भी बनेगा।

ज्ञान स्वराज आधारित स्वास्थ्य व्यवस्था की चुनौतियां व आवश्यकताएँ

1. पहली चुनौती है आज की डाक्टरी विशेषज्ञ आधारित मानसिकता जिसके कारण प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार व स्थानीय स्वास्थ्य परम्पराओं को उनमें जोड़ना मुश्किल हो गया है। इसके लिए स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, नर्सों व डाक्टरों को परम्परागत पद्धतियों व स्थानीय परम्परागत जड़ी–बूटी इत्यादि का महत्व समझना होगा, ताकि सभी प्रकार के ज्ञान का अधिकतम फायदा सब को मिले। इसके लिए लोगों को डाक्टरों व विशेषज्ञों पर बनती निर्भरता को भी कम करना होगा, क्योंकि इस निर्भरता में भी गैर–जरूरी खर्च बढ़ने के साथ–साथ स्वास्थ्य पर नकारात्मक असर बढ़ते हैं और जिनको असल में विशेषज्ञ सेवाओं की ज़रूरत होती है। जिसके कारण आम जन उनसे महरूम रह जाते हैं।
2. अपने शरीर को समझकर स्थानीय घरेलू इलाज, ऋतु–चर्या और दिनचर्या इत्यादि परम्परागत ज्ञान को फैलाने से निर्भर मानसिकता कम हो सकती है। इसके लिए कई

कदम उठाए जा सकते हैं जैसे कि 'जिला स्वास्थ्य स्वराज रिसोर्स सेन्टर' बनाकर जो स्थानीय घरेलू इलाज जड़ी–बूटी व लोक चिकित्सक सम्बन्धी जानकारी इक्ट्ठी कर सके। उसको शास्त्रीय परम्परागत ज्ञान की कसौटी पर परखना व प्रोत्साहन देना सुनिश्चित किया जाना चाहिए। ऐसा न करने से इस ज्ञान का इसी पीढ़ी के साथ खत्म हो जाने का खतरा है।

3. जड़ी–बूटियों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय उत्पाद इस प्रकार बढ़ाया जाए कि उसकी चिकित्सकीय गुणवत्ता बनी रहे। शहरों में जगह–जगह जड़ी–बूटी उगाकर उपलब्ध कराना एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम हो सकता है। स्कूलों में भी यह उगाई जा सकती हैं व बच्चों को उनके इस्तेमाल की जानकारी दे कर उन्हे इस ज्ञान परम्परा से जोड़ा जाए।

4. चौथी चुनौती आएगी सामाजिक बीमा योजनाओं के कारण चिकित्सा सेवाओं में अनेक विकृतियां पैदा होने की। इसलिए इन विकृतियों को समझकर इनके समाधान को व्यवस्था में जोड़ना होगा।

5. पांचवी चुनौती है बजट की। अगर सभी को डाक्टरी व अन्य पद्धतियों की सेवाएं सुनिश्चित करानी हैं तो लगभग 5 से 10 गुणा अधिक बजट चाहिए होगा। अभी के बजट में प्रति व्यक्ति केवल 250 रूपये (लगभग 4 अमरीकी डालर) सालाना खर्च किया जाता है। बाकी खर्च लोग अपनी जेब से करते हैं। सरकारी सेवाओं के साथ–साथ अगर सरकार प्राइवेट सेवाओं के लिए भी खर्च उठाएगी तो बजट और भी बढ़ाने की आवश्यकता पड़ सकती है जैसे कि अमेरिका का अनुभव दिखाता है, तो बजट 5–10 नहीं, 100 गुणा बढ़ाना पड़ेगा।

6. छठी चुनौती है ग्रामीण इलाकों में सेवाओं की गुणवत्ता की। पंचायत को साथ लेकर, लोगों द्वारा सामुदायिक निगरानी का तरीका आज़माया जा चुका है और व्यापक कार्यान्वयन की ज़रूरत है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दवाओं के क्षेत्र में डब्लूटीओ एक चुनौती है। इसके लिए सरकार अन्य विकासशील देशों के साथ खड़ी है ताकि हमारी दवा इंडस्ट्री जो जिम्मेदारी निभाती आई है उसे जारी रख सकें। हमारी फार्मास्यूटिकल इंडस्ट्री कम दाम पर दवाएं उपलब्ध कराती आई है, हमारे देश में ही नहीं, अन्य गरीब देशों में भी। ऐसे प्रावधान अपनाने होंगे जो इस कार्य को बढ़ावा दे सकें।

8. और आखिरी चुनौती है स्वास्थ्य सेवाओं के साथ–साथ सामाजिक व पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य की। सामाजिक माहौल सौहार्दपूर्ण हो, मानसिक तनाव कम हों, स्वस्थ वातावरण हो जिससे रसायनिक प्रदूषण कम हो जाए, यानि ऐसी विकास नीतियां गढ़ने की आवश्यकता है जो सभी के स्वास्थ्य व खुशहाली पर केंद्रित हों, आर्थिक विकास तब इसका सार्थक माध्यम होगा।

इस प्रकार, स्वास्थ्य स्वावलम्बन व स्वस्थ जीवन की ओर हर भारतवासी बढ़ेगा तो स्वास्थ्य संवर्धन की ठोस सामूहिक नींव पर व्यवस्था बनेगी।

ज्ञान स्वराज और महिला समूह

सामुदायिक स्तर पर हाल के वर्षों में दो महिला समूहों द्वारा स्वास्थ्य ज्ञान स्वराज के दो सफल प्रयासों के प्रेरणादायक उदाहरणों से मैं अपनी बात को विराम दूँगी।

'अपनी रसोई'

दिल्ली की गरीब बस्तियों में 1975 से कार्यरत 'सबला संघ' व ऐक्शन इण्डिया ने 1984 में महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का समूह तैयार किया था। वह माता एवं शिशु स्वास्थ्य पर स्वयं सहयोग समूह बनाने के अलावा सरकारी अस्पतालों में गरीब महिलाओं के साथ बेहतर सुलूक के लिए तालमेल बिठातीं, अधिकारियों को उनकी समस्याओं से अवगत करवातीं, बस्ती में हैज़ा फैलने पर रोकथाम के कदम व 1984 के सिक्ख विरोधी दंगों में शान्ति के प्रयास में सार्थक भूमिका अदा करती रही है। अन्य कामों के साथ–साथ उन्होंने 'अपनी रसोई' के नाम से विभिन्न घरेलू इलाज व पोषण के परम्परागत तरीके महिलाओं में फिर से प्रतिश्ठित करने का कार्यक्रम चलाया। साथ ही अनेक चूर्ण इत्यादि को बनाकर समुदाय में मूल दाम पर उपलब्ध भी कराया। महिलाओं की जानकारी स्वतः उभरने लगी और 'अपनी रसोई' समग्र होती गई। हालांकि यह कार्यक्रम अन्य काम के दबावों के चलते बन्द हो गए, अपने छोटे कार्यकाल में ही उसने महिलाओं के उत्साह व सुप्त ज्ञान को उजागर किया। घर की रसोई को फिर से स्वास्थ्य का मूल आधार बनाने की ओर महिलाओं को सशक्त किया।

'नम्म आरोग्य नम्म कायी अल्ली' **('हमारा स्वास्थ्य हमारे हाथ में')**

दूसरा उदाहरण है कर्नाटक के रायचूर जिले के ग्रामीण अंचल का जहाँ 'जागरूक महिला संगठन' (जे.एम.एस.) का गठन सन् 2000 में हुआ। दलित महिला खेतिहर मज़दूरों के इस संगठन की नींव टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सिज़ से निकले कुछ मास्टर ऑफ सोशल वर्क के छात्रों के सहयोग से रखी गई। 'संघर्श' और 'नवनिर्माण' के दो आधार स्तम्भों से वह दलितों व महिलाओं के मूल अधिकारों व सरकारी कार्यक्रमों के सही कार्यान्वयन पर कार्यरत थे। इसी के तहत सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सही व इज्ज़तपूर्ण सेवाएँ पाने के प्रयास भी किए गए। साथ ही अपनी स्वास्थ्य कर्मियों की टीम भी बनाई। 'गिद्द मूलिके औशधि' यानि जड़ी बूटी का इलाज उस इलाके की संस्कृति का परम्परागत हिस्सा रहा है, परन्तु ऐलोपैथी के आने के बाद दब गया था। इस समूह ने तय किया कि इसके स्वास्थ्य कर्मियों को परम्परागत ज्ञान को दोबारा आगे लाना चाहिए। उन्हें कई प्रशिक्षण व अन्य परम्परागत स्वास्थ्य पर काम कर रहे संस्थानों के काम से सीखने के लिए ले जाया गया। अपने शरीर व समुदाय के स्वास्थ्य की देखभाल व आम स्वास्थ्य समस्याओं को समझने के साथ अधिकारों, मानसिक स्वास्थ्य व सामुदायिक खुशहाली की

भी समझ बढाई गई। धीरे–धीरे यह स्वास्थ्यकर्मी खेतिहर मज़दूरों की आम समस्याओं की देखरेख करने लगीं। प्रयोग व प्रयास करके उन्होंने कई सफल इलाज किए जिससे उस इलाके में उनका नाम हो गया। केमिकल खेती से हाथ व पैर में चमड़ी के रोग आम थे। इन्होंने नीम और हल्दी का एक तेल बनाया व साथ में चिरायते की खाने की दवा भी। खाने के परहेज़ भी उन्हें स्पष्ट हो गए थे। इस सब के सफल उपचार से इलाके में उनकी काफी ख्याति फैल गई। दूसरी बड़ी सफलता मिली जोड़ों और मांसपेशियों का इलाज करते–करते। इस सफलता के कारण उनके पास डाक्टरों का इलाज करके हारे हुए लक्वा के केस आने लगे। अपने ज्ञान व सूझ–बूझ के आधार पर उन्होंने स्थानीय जड़ी–बूटी वाले तेल की मालिश शुरू की और साथ ही पिलाने को कुछ काढ़ा। धीरे–धीरे वह मरीज़ को कसरत करवाने लगते। इस तरह उन्होंने कई लक्वे के मरीज़ों को खड़ा कर दिया।

महिलाओं में अनीमिया व कमज़ोरी आम बात है। जे.एम.एस. की स्वास्थ्य कर्मी सुआन्जने की पत्ती व आँवले का सत्त बनाकर देती हैं। परन्तु इतना ही नहीं, वह साथ में महिला की अन्य घर, काम, मन सम्बन्धी समस्याओं को भी समझती, उन पर भी बात करती हैं। मानसिक परेशानी व शारीरिक कमज़ोरी के आपसी प्रभाव को समझकर ये महिलाओं की कई समस्याएँ समग्रता से सुनने–सुलझाने के प्रयास करती हैं।

इन 15 वर्षों में एक मज़बूत टीम की परम्परागत ज्ञान को पुनर्जीवित करने में रूचि व उपलब्धियाँ गहरी हुई हैं। परन्तु साथ ही अन्य दबावों व जरूरतों के चलते वह प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की व्यवस्था बेहतर बनाने के लिए भी कार्यरत रहीं। 'नम्म आरोग्य नम्म कायी अल्ली' यानि 'हमारा स्वास्थ्य हमारे हाथ में' उनका नारा है।

स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए समय का तकाज़ा

शायद उन्नीस सौ सत्तर और अस्सी के मुद्दों व प्रयासों पर फिर गौर करने का समय आ गया है। परम्परागत स्वास्थ्य ज्ञान के सम्बन्ध में फर्क यह आ गया है कि एक प्रवाह मुख्यधारा में भी उसके समर्थन में व उसके सिद्धान्तों को अपना रहा है। खतरा यह है कि इस मौके का इंडस्ट्री ही फ़ायदा ले जाएं। 'हेल्थ टूरिज़्म' का बाज़ार बड़े शहरों व पर्यटक स्थलों पर गर्म है। विश्व का दवा उद्योग परम्परागत प्राकृतिक औषधियों से दवाएं बनाने को प्रयासरत है। इस बढ़ती माँग के चलते औषधीय पौधे पहाड़ों–जंगलों से लुप्त होने लगे हैं। स्पष्ट है कुछ नियोजित ढंग से देश–व्यापी व स्थानीय पहल अतिआवश्यक है।

2014 में चुनी गई केन्द्रीय सरकार ने 'राष्ट्रीय आयुश मिशन' की घोषणा की और 5400 करोड़ रुपए के कार्यक्रम की संरचना हुई। परन्तु बजट में मिला केवल 300 करोड़! यानि कोई मिशन नहीं, सामान्य सेवाएँ भी बमुश्किल चल पाएंगी। परन्तु कई राज्य सरकारें अब इन पद्धतियों को बढ़ावा दे रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 21 जून को 'विश्व योग दिवस' घोषित किया गया है। दुनिया के कई प्रमुख चिकित्सा विज्ञान

की शोध–संस्थाएँ परम्परागत ज्ञान पर शोध कर रही हैं। ज़रूरत है हमें इस वातावरण को लोक शक्तिकरण के लिए प्रवाहित करने की। लोक ज्ञान की वैधता को पुनः प्रतिष्ठित कर पाएँ तो एक बहुलतावादी ज्ञान संस्कृति खुद–ब–खुद प्रस्फुटित होकर फलने फूलने लगेगी। तब नीचे से ऊपर तक व्यक्ति, समुदाय व समाज में स्वास्थ्य सम्वर्धन की सम्भावना बनने लगेगी। ■

एड्स की बहसें और विज्ञान का तीसरा पक्ष*

हाल के दिनों में दो एड्स संबंधी विवाद सुर्खियों में रहे हैं । एक 'एड्स का कारण वायरस है कि नहीं ' के सवाल पर टिका है । दूसरा विवाद खड़ा हुआ जब संयुक्त राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय एड्स कार्यक्रम (यू.एन.एड्स) द्वारा छापे भारत में एड्स से मरने वालों के आंकड़े का राष्ट्रीय एड्स उन्मूलन संगठन (नाको) ने सार्वजनिक विरोध किया। वायरस का अस्तित्व एवं एड्स पीड़ितों के आंकड़े, दोनों ही एड्स के विज्ञान की लगभग शुरूआत से वैज्ञानिकों के बीच विवादास्पद रहे हैं। सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा इस सार्वजनिक बहस की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का चलाया जाना प्रशंसनीय है। राष्ट्रीय एड्स उन्मूलन संगठन (नाको) भी मुबारकबाद का पात्र है क्योंकि अब वह अन्तर्राष्ट्रीय नज़रिए को आंख मूंद कर अपनाने के बजाए स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर महामारी को आंकने लगा है ।

परन्तु इन सार्वजनिक बहसों को ज़्यादा समग्र बनाना आवश्यक है क्योंकि डाक्टरों द्वारा एच.आई.वी. व एड्स के नाम पर मरीज़ों को आंतकित करने व स्वस्थ व्यक्तियों को बीमार व लाइलाज घोषित करके उन्हें मौत की तरफ धकेलने की कई घटनाएं अखबारों में लगातार रिपोर्ट हो रही हैं। फिर भी यह सिलसिला अनियंत्रित चल रहा है सार्वजनिक बहस में इसके इलाज पर कोई चर्चा नहीं है ।

यह भी गौरतलब है कि भारत में अनेक स्थानों पर एच.आई.वी के फैलाव की दर घटने लगी है । यह बताने पर हर कोई हैरान होता है । ऐसा क्यों, जबकि महामारी सम्बन्धी विज्ञान द्वारा यह सामान्यतः अपेक्षित है कि महामारी एक चरम बिन्दु तक बढ़ने के बाद घटेगी ही? इस स्थिति के लिए जिम्मेवार है अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय एड्स के अधिकारिक पक्ष द्वारा पिछले 15 साल में बढ़ा चढ़ाकर पेश किया गया एड्स का चित्र जो एक सतत बढ़ते हौव्वे का है । आधिकारिक पक्ष के विरोध में चल रही सार्वजनिक बहस भी ऐसे तथ्यों पर चुप रही है ।

आधिकारिक पक्ष का मानना है कि एड्स एक घातक वायरस (एच.आई.वी.) द्वारा जनित संक्रामक रोग है जो इन्सानी समाज में तेज़ी से फैलकर उसे तहस–नहस कर देगा। वह प्रमाण देते हैं कि उन्होंने संक्रमित व्यक्तियों की कोशिकाओं से निकलते वायरस की फोटो तक खींची है। इस विवाद में उनके विरोधी पक्ष का मानना है कि एड्स केवल शरीर की घटती प्रतिरोधात्मक शक्ति के कारण पुरानी बीमारियों का बढ़ा हुआ रूप है। इनके अनुसार आज के जीवन में बढ़ते नशीले पदार्थों के सेवन, प्रदूषण, समलैंगिक एवम एक से अधिक साथियों से यौन व्यवहार या फिर बढ़ती गरीबी एवं कुपोषण के कारण

* सन् 2000 में जब एड्स की महामारी सम्बन्धी बहसें देश और दुनिया में जोरों पर थीं तब इनका विश्लेषण करते हुए दो लेख जनसत्ता में छपे थे – 'एड्स का तीसरा पहलू' 23 जून 2000 को और 'एड्स का तीसरा पक्ष' 7 अगस्त 2000 को। यहाँ दोनों को एक शीर्षक के तहत पुनः प्रकाशित किया गया है।

प्रतिरोधात्मक शक्ति घटती है, वायरस के कारण नहीं। इनके अनुसार 'एच.आई.वी'. कोई वायरस नहीं, केवल शरीर पर जोर पड़ने से इन्सानी कोशिकाओं के अन्दर से निकला एक पदार्थ है जिसको वायरस के कण मान लिया गया है। दोनों विरोधी पक्षों की बात को अपूर्ण सत्य मानते हुए इस लेख में एक तीसरा तर्क है जो एपिडीमियोलॉजी (बीमारी के समाज में फैलाव की दर एवं कारकों का विज्ञान) के मूल सिद्धांतों पर आधारित है – कि वायरस का संक्रमण एवं सामाजिक परिस्थितियों जनित शारीरिक प्रदूषण से क्षीण हुई प्रतिरोधात्मक शक्ति, दोनों मिलकर एड्स की समस्या को जन्म देते हैं। यह तर्क समाज की परिस्थितियों को केन्द्र में रख कर बने विज्ञान पर आधारित है, न कि प्रयोगशाला–आधारित प्रश्नों पर। साथ ही विज्ञान एवं समाज की प्रासंगिक जटिलताओं को सरल भाषा में परन्तु बिना उनकी बहुआयामिता को खोए कहने का प्रयास किया गया है, ताकि स्थिति को उसकी समग्रता में समझा जा सके। अन्त में इस नज़र से कुछ तात्कालिक कार्य इंगित हैं।

भारत में एड्स सम्बन्धी कुछ तथ्य इस प्रकार हैं –

- 1986 में मुम्बई व चेन्नई से पहली बार एच.आई.वी. के पॉजिटिव व्यक्ति मिले। तब से अलग अलग समय पर देश के विभिन्न भागों में एच.आई.वी. की दर बढ़नी शुरू हुई, कहीं ज़्यादा, कहीं कम, और सतत बदल रही है। तब से ही एड्स के खतरे को बढ़ा–चढ़ाकर प्रचारित किया गया। भविष्यवाणियाँ की गईं कि 'भारत में अफ्रीका की तरह होगा जहां गांव–के–गांव तबाह हो गए' व "1995 तक बम्बई की हर तीसरी महिला एच.आई.वी. पॉजिटिव होगी" (भारतीय आयुर्विज्ञान शोध परिषद के तत्कालीन डायरेक्टर का कहा)।
- इस प्रचार के चलते एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम के नाम पर विश्व बैंक से 1992–97 में लगभग 300 करोड़ रूपए का कर्ज़ा लेकर (जो देश को ब्याज समेत लौटाना होगा) खर्चा गया। यह तब जबकि आधिकारिक तौर पर घोषित आंकड़ों के अनुमान के अनुसार भी एड्स की मौतों की तुलना में अन्य बीमारियों से कहीं ज़्यादा मौतें होना तय था (जैसे कि 8 गुणा टी.बी.से एवं 50 गुणा दस्त व निमोनिया से शिशु मृत्यु)। परन्तु इनके उन्मूलन के कायक्रमों पर उस अनुपात में ध्यान नहीं दिया गया।
- पिछले 15 साल में जांच द्वारा कुल 75 हजार व्यक्ति एच.आई.वी.पॉजिटिव पाए गए। इन में से अधिकांश स्वस्थ हैं, कुछ में पुरानी बीमारियों (जैसे कि टी.बी., दस्त, खाँसी–ज़ुखाम, आदि) के सामान्य लक्षण हैं। परन्तु कुछ में (जिन्हें एड्स के मरीज़ कहा जा सकता है) पुरानी बीमारियों का एकदम नया स्वरूप है – युवाओं–युवतियों में फफूंद के संक्रमण से मुँह भर जाना, दस्त जो किसी दवा से ठीक न हों, खास ट्यूमर अथवा निमोनिया जो पहले युवाओं में पाए ही नहीं जाते थे, इत्यादि। और इसके साथ मरीज़ का शरीर तिल–तिल घटने लगता है । ऐसी बीमारी पहले केवल उस छोटी संख्या में देखी जाती थी जिसकी प्रतिरक्षात्मक शक्ति दवाओं द्वारा कुंद की गई होती

या अनुवांशिक कारकों से स्वतः कुंद ही थी । कुछ मरीज़ों में गम्भीर कुपोषण सरीखे ही लक्षण होते हैं परन्तु अनेक ऐसे लक्षण साथ होते हैं जो कुपोषण से भिन्न है । इसलिए इंसानी समाज के इस 'नए' कष्ट को हम पूर्णतः नकार नहीं सकते।

- विभिन्न समूहों में (जैसे कि गर्भवती महिलाओं, रक्त दानकर्ताओं, यौन रोग के मरीजों, यौन व्यापार में लिप्त व्यक्तियों में) एच.आई.वी. पॉजिटिव व्यक्तियों की दर मापी गई है। यह 1987 से बढ़ती रही है। परन्तु गौरतलब बात है कि कुल संख्या अधिकारियों द्वारा घोषित पूर्वानुमानों तक नहीं पहुँची। इसीलिए यू.एन.एड्स के डायरेक्टर को दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के डाक्टरों के बीच 1999 में बोलते हुए कहना पड़ा कि भारत में यह महामारी 'मध्यम स्तर' की है। मुम्बई की गर्भवती महिलाओं में यह दर अधिकतम 3.6 प्रतिशत तक पहुंची (1995 में) और कई वर्षों से 2.5 प्रतिशत के आसपास स्थिर है। यह 'हर तीसरी महिला' के घोषित पुर्वानुमान के कहीं करीब नहीं। न ही मुम्बई शहर एड्स के कारण 'तबाह' होता नज़र आ रहा है!

- एच. आई.वी. जांच किसी वायरस की पहचान नहीं करती, एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ के शरीर में होने का पता लगाती है। जिसके शरीर में ये पाया जाता है उसे 'पॉजिटिव' कहा जाता है । आधिकारिक सोच के अनुसार यह पदार्थ शरीर में एच .आई.वी. प्रवेश के बाद उसके विरूद्ध बना रक्षात्मक पदार्थ (ऐन्टीबॉडी) है व इसके शरीर में होने का मतलब है कि वायरस ने प्रवेश किया है। विरोधी वैज्ञानिकों का मानना है कि यह मनुष्य की कोशिकाओं का ही पदार्थ है जो शरीर पर अनेक प्रकार के नकारात्मक दबावों के कारण बाहर फेंका जाता है। इन विपरित नज़रियों से स्पष्ट है कि इसका पॉजिटिव होना 'कुछ' अनहोनी का द्योतक तो है – चाहे वह वायरस का संक्रमण हो या समाज जनित जीवन शैली व दबावों का कुप्रभाव।

  परन्तु समस्या इतनी भर नहीं । एच.आई.वी. जांच की एक कमी यह है कि कभी–कभार यह गलत पॉज़िटिव हो सकती है, जैसे कि टीकाकरण के बाद या किसी अन्य संक्रमण में। जिन समूहों व समाजों में एड्स की दर 1 प्रतिशत से कम है (जैसे कि भारत मे अधिंकांशतः) वहां यह नतीजा 50 प्रतिशत तक गलत होने की सम्भावना है। तीसरी समस्या है कि जिन समूहों या व्यक्तियों में जांच की गई उन्हीं के आंकड़ों से पूरे समाज में महामारी की तस्वीर खींची गई जबकि वह अधिकांशतः 'ज़्यादा खतरे वाले' समूह थे । इन कारणों से एच.आई.वी. जांच आधारित आंकड़े संदिग्ध रहे हैं।

- इन कमियों से निजात व ज़्यादा सटीक आंकड़े पाने के लिए कार्यक्रम द्वारा कई उपाय भी अपनाए गए हैं । हर व्यक्ति की दो अलग जांचों के पॉज़िटिव आने पर (जिससे उसके अन्य कारणों से पॉज़िटिव आने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है) ही उसे आंकड़ों में जोड़ा गया । साथ ही, एक ही संस्था द्वारा एक ही समूह से लगातार हर वर्ष आंकड़े इकट्ठा करने की प्रणाली ('सेन्टिनल सर्वेलेन्स') 1993 से अपनाई गई । एच.आई.वी जांच की सभी कमियों के बावजूद इस जांच प्रणाली से दर में बदलाब

विश्वसनीयता से देखा जा सकता है, भले ही सटीक संख्या न मिले ।

- 1993–94 से राष्ट्रीय एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम द्वारा इसी प्रणाली से एकत्रित आंकड़े दिखाते हैं कि मुम्बई एवं मणिपुर समेत देश में अनेक स्थानों पर एच.आई.वी. जांच में पॉज़िटिव पाए जाने वालों की दर अब बढ़नी बन्द हो गई है। यानि एड्स की महामारी का ग्राफ़ असीमित ऊपर की ओर बढ़ता नहीं रहेगा । इस लेख के साथ छपे 1994–98 के आंकड़ों का चित्र यही कह रहा है। यह आंकड़े 1998 में राष्ट्रीय एड्स नियन्त्रण संगठन की रिपोर्ट 'राष्ट्रीय परिदृश्य 1997–98' में छपे थे।

- नाको द्वारा आबादी की विभिन्नता के अनुसार राज्यवार एवं शहरी व ग्रामीण, पुरूष व महिला, यौन रोगों के मरीज़ व 'अन्य', के लिए अलग–अलग हिसाब लगाकर, देश में एच.आई.वी. पॉज़िटिव की संख्या का एक मोटा अनुमान तय किया गया। यू.एन.एड्स ने इस अनुमान पर एक सार्वभौम 'अंतर्राष्ट्रीय फॉर्मूला लगाकर भारत में 3.1 लाख एड्स से मरने वालों की संख्या घोषित कर दी। यह फॉर्मूला '80 के दशक में अमरीका के एक समूह में फैल रही बीमारी के अनुरूप बनाया गया था। अन्य एपिडिमियोलॉजी के विशेषज्ञों ने इसके सार्वभौम प्रयोग पर आपत्ति की और इसे भारत के आँकड़ों पर लागू करना उचित नहीं माना। इसी नज़र से नाको भी इस संख्या को मानने को तैयार नहीं। सटीक अनुमान का कोई तरीका न होने की वजह से नाको अपनी अटकल घोषित नहीं कर रहा। इस जिम्मेवारी–पूर्ण रवैये की सराहना होनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी आवश्यक है कि नाको सटीक अनुमान बनाने के तरीके विकसित करे जो हमारी परिस्थितियों के अनुकूल हों।

वर्तमान बहसों पर तथ्य आधारित नज़र

एड्स की समस्या को बढ़ा–चढ़ाकर पेश किए जाने एवं उसके कारण लोगों पर कहर ढाए जाने की प्रतिक्रिया में अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस समस्या के अस्तित्व को ही नकारना शुरू कर दिया। उन्हें अपने पक्ष में ऐसे वैज्ञानिकों के तर्क मिल गए जो एच.आई.वी. वायरस के अस्तित्व को नकार रहे थे, एड्स की समस्या को नहीं। दोनों तर्कों का घालमेल कर उन्हें सार्वजनिक मुद्दा बनाने की कोशिश होने लगी। एच.आई.वी. की जांच की कमियों ने उनके तर्कों को बल दिया।

परन्तु एच.आई.वी. की दर घटने का कारण न तो कोई वैकसीन (संक्रमण निरोधक टीका) या दवा हो सकती है क्योंकि एच.आई.वी. के विरूद्ध ऐसी तकनीकी उपलब्ध ही नहीं है। न ही ऐसे कोई संकेत हैं कि यौन व्यवहार में ऐसा फेरबदल आया है कि वह बीमारी की दर घटा दे। 1980 के दशक में गरीबी और कुपोषण के कुछ घटने के संकेत थे, परन्तु 90 के दशक में इनके फिर बढ़ने के स्पष्ट संकेत हैं। स्पष्ट है कि एच.आई.वी पॉजिटिव की दर बढ़ने और फिर घटने के अन्य कारण होंगे। इसका एक प्रमुख कारण हो सकता है – इन्सानी शरीर एवम एड्स के कारणों के बीच एक संतुलन बैठ जाना जिससे मध्यम स्तर की बीमारी आबादी में घर करके रहेगी परन्तु उतनी व्यापक

व घातक नहीं जितनी शुरू में थी। अब आबादी में दर थोड़ी बहुत बढ़ती घटती रहेगी, जैसे कि हैज़ा या मलेरिया या कोई अन्य। एपिडिमीयोलॉजी दिखाती है कि किसी भी 'नए' संक्रमण का समाज के साथ यही रिश्ता रहा है। शायद मुम्बई व अन्य स्थानों के आंकड़े भी यही प्रक्रिया दिखा रहे हैं।

परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि एड्स का कारण केवल वायरस है। एपिडीमियोलॉजी विज्ञान का एक मूल सिद्वान्त है कि बीमारी किसी एक कारक से नहीं, कई कारकों के साथ आने पर होती है। संक्रामक रोग भी केवल कीटाणु के प्रवेश से नहीं होते, उसके साथ–साथ शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति कमजोर पड़ने पर ही बीमारी पकड़ती है। जैसे कि, हम सब में सर्दी–ज़ुखाम का वायरस हर समय विद्यमान है परन्तु कमज़ोरी, थकान अथवा ठण्ड लग जाने से प्रतिरोधात्मक शक्ति घटने पर ही उसके लक्षण प्रकट होते हैं। एक बीमारी का बीज है तो दूसरा उसके फलने–फैलने के लिए ज़मीन तैयार करता है। इसलिए वायरस व जीवन शैली के तर्क एक दूसरे के विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं। किसी एक को नज़रअन्दाज करने से लोगों के बेहतर स्वास्थ्य के लिए संघर्ष कमज़ोर होगा। गौरतलब यह है कि न आंकड़ों को एकत्रित करने व छापने वाले संस्थान ने घटने की बात उजागर की और न उनके विरूद्ध सार्वजनिक बहस चलाने वालों ने, शायद इसलिए कि यह दोनों की सार्वजनिक घोषणाओं के माफिक नहीं है।

एड्स के कुछ तात्कालिक कार्य बिन्दु

'वायरस है कि नहीं' प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों के बीच विवाद है। गौरतलब है कि जब से वायरस के प्रयोगशालाई मुद्दे सार्वजनिक बहस में प्रमुखता पाने लगे हैं तब से सामान्य जन की परेशानी के मुद्‌दे बहस में गौण होते जा रहे हैं। यह चिन्ता का विषय है। सवाल एड्स के विज्ञान और वैज्ञानिकों पर ज़रूर उठने चाहिएं, परन्तु केवल प्रयोगशाला की नज़र से नहीं। सवाल कार्यक्रम पर भी ज़रूर उठने चाहिए – यह आँकने पर कि उसकी रणनीति से हमारे समाज की परिस्थिति में क्या नतीजे निकलेंगे, न केवल उसको एक षड़यन्त्र कहकर। जैसे कि अतिश्योक्तिपूर्ण आंकड़ों द्वारा खड़े किए गए हौव्वे से डाक्टर व 'सामान्य जन' का खौफज़द होना और इसलिए घोषित एड्स पीडितों को प्रताड़ित करना। या फिर एड्स के यौन व्यवहार से फैलने की जानकारी ऐसे देना कि वह गैर–जिम्मेवार यौन व्यवहार को घटाने के बजाए बढ़ावा दे। एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम के दूसरे फेज़ के प्रस्तावना दस्तावेज़ में विश्व बैंक ने अपने ऋण द्वारा नियन्त्रण के तरीके आज़माने की बात बहुत स्पष्टता से लिखी है। इससे कार्यक्रम से जुड़े अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के स्वार्थ स्पष्ट दीखते हैं। एच.आई.वी. जांच के किट, एड्स की दवाओं व प्रतिरोधात्मक मेडिकल औजारों इत्यादि के व्यापार का स्वार्थ है ही। इन सब को नज़रअन्दाज न करते हुए, एड्स के नाम पर सामान्य जन के उत्पीड़न पर तत्काल ध्यान देना आवश्यक है।

डाक्टर धड़ल्ले से एच.आई.वी. जांच करवा रहे हैं और एक जांच से पॉजिटिव रिपोर्ट आने पर व्यक्ति को पॉजिटिव घोषित कर देते हैं। इससे उसकी मानसिक व

सामाजिक प्रताड़ना शुरू हो जाती है। परन्तु इतना ही नहीं, इस बात को नज़रअन्दाज करके कि एच.आई.वी. पॉज़िटिव व्यक्ति दो से बीस साल तक एकदम सामान्य स्वास्थ्य रह सकता है, डाक्टर उस मरीज़ की सामान्य बीमारी को भी लाइलाज घोषित कर, उसे घर जाकर मृत्यु का इन्तज़ार करने के लिए छोड़ देते हैं। इससे वह व्यक्ति शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार से अधमरा तो हो ही जाता है, चाहे उसे सामान्य रोग ही हो । उसके परिवार पर जो बीतती है सो अलग। ऐसे 'अधमरे' मरीजों को मानसिक ढांढस एवं सामान्य पोषण एवं दवाएं देकर स्वस्थ बनाने का काम करके नागपुर के डा.शान्तिलाल कोठारी जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं ने एक महत्वपूर्ण तथ्य सिद्ध किया है – कि डाक्टरों पर हौव्वे के गलत प्रभाव ने सामान्य जन पर कितना गम्भीर आघात किया है । हो सकता है उन मरीज़ों में से अनेक सचमुच एच.आई.वी. ग्रस्त हों, परन्तु वह सालोंसाल सामान्य जिंदगी जी सकते हैं। एच. आई. वी. जांच के कारण इन्हें मौत की ओर धकेलने के अपराध के लिए जवाबदेह कौन होगा – एड्स का हौव्वा खड़ा करने वाले, एच.आई.वी. के बारे में आधी–अधूरी जानकारी प्रचारित करने वाले, या फिर मरीज़ का इलाज करने वाले डाक्टर? यह मुद्दा एड्स भेदभाव विरोधी आंदोलन, ज्वाईंट एक्शन कमेटी कुन्नूर, एवं अन्य कार्यक्रम की कमियों का विरोध करने वाले संगठन 1990 से उठा रहे थे। परन्तु पिछले कुछ समय से प्रयोगशालाई बहस ने इसे गौण बना दिया। स्पष्टतः यह सामान्य जन के तात्कालिक हित के खिलाफ़ है।

अतिवादी तर्क एवं भाषा का प्रयोग कर एड्स की समस्या को पूर्णतः नकार कर क्या सामान्य जन का हित होगा? एड्स से सम्बन्धित गलत प्रचलन एवं कार्यक्रमों की प्रतिक्रिया में, इस बीमारी को पूर्णतः नकारने से क्या हम अपने समाज व उसमें पीड़ित व्यक्तियों के प्रति गैर ज़िम्मेवार नहीं होंगे ? सार्वजनिक तौर पर अतिवादी भाषा में एकांगी बात कहना आधिकारिक एवं विरोधी दोनों पक्षों की ही शैली रही है। दोनों ही नज़रियों में एक और बात साझी है – दोनों मानते हैं कि सामान्य जन को पूरी बात बताने से वह 'भ्रमित' (कन्फ्यूज़्ड) हो जाते हैं क्योंकि वह पूरी बात समझते नहीं । हमारे यहां ब्राह्मण परम्परा में सामान्य जन को अकल से अक्षम मान कर सरलीकृत और अधूरी बात ही बताई जाती थी। अब लोकतांत्रिक समाज में ज़रूरी है कि जटिल सवाल भी उनकी बारीकियों समेत जनता के सामने रखें जाएं।

इस नज़रिए से एड्स नियन्त्रण के लिए तीन निष्कर्ष निकलते हैं – (1) महामारी का हौव्वा न बनाया जाए और इस के लिए संतुलित ढ़ग से निश्चित एवं पूरी जानकारी प्रचारित की जाए। डाक्टरों एवं सामान्य जन को इस बीमारी के प्रति सामान्य रूख अपनाने के लिए प्रेरित किया जाए। (2) एच.आई.वी. जांच की कमियों के चलते महत्वपूर्ण यह है कि उसके आधार पर किसी व्यक्ति को 'पॉजिटिव' लेबल करने में अत्यधिक सावधानी बरती जाए। यह ऐहतियात बरतने की राय है कि किसी को 'एच.आई.वी.ग्रसित' घोषित करने से पहले कम से कम तीन बार जांच की जाए और वह भी अलग अलग रसायन प्रयोग करके (दो एलाइज़ा व एक वेस्टर्न ब्लॉट या अलग रसायन वाले तीन एलाइज़ा)।

इससे कम में कोई भी निष्कर्ष निकालना डाक्टरी अनाचार माना जाना चाहिए । यह भी याद रखा जाए कि सभी सावधानियों के बावजूद सम्भवतः 100 में से 2 पॉजिटिव पाए गए व्यक्ति असल में पॉजिटिव न हों । यह एहतियाद डाक्टरों व आम जन में तत्काल फैलाना आवश्यक है। (3) एच.आई.वी. पॉजिटिव व्यक्तियों का इलाज करते समय उन्हें ऐसी दवाएं न दी जाएं जो शरीर पर नशे या प्रदूषण जैसा कुप्रभाव डालें। एड्स के लिए सबसे ज़्यादा प्रचारित दवा 'ए.जेड.टी.' के साथ साथ अन्य दवाओं का भी यह दुष्प्रभाव जाना माना है । और इसीलिए इनके इस्तेमाल पर पुनर्विचार आवश्यक है । एच.आई.वी. पॉज़िटिव व्यक्तियों की सामान्य बीमारियों का सामान्य इलाज होना चाहिए। साथ ही उन्हें शरीर को प्रदूषण से बचाने वाले पदार्थ खाने चाहिएं जैसे कि ताज़ी फल–सब्ज़ी, अंकुरित अनाज, नियमित दिनचर्या अपनानी चाहिए आदि। (4) इस सब के लिए प्रमुख कदम नाको को उठाने होंगें। कुछ आवश्यक कदम हैं – देश के विभिन्न भागों व उनमें विभिन्न समूहों के अनुसार सटीक संख्या अनुमानित करने की प्रणाली विकसित करना, हमारी परिस्थितियों व कारणों पर नई सोच के अनुरूप एच.आई.वी. एवं एड्स के निदान और उपचार के तरीकों पर पुनर्विचार करना, और डाक्टरों को सही तरीकों के बारे में प्रशिक्षित करना।

इस प्रकार आवश्यकता तो कार्यक्रम की पूरी रणनीति पर पुनर्विचार करने की है। नाको ने हाल में काफ़ी हिम्मत दिखाई है। अपनी पिछली भूल सुधारते हुए उसने 1998 में एक अंग्रेजी अखबार एवं अब यू.एन.एड्स द्वारा घोषित अतिश्योक्तिपूर्ण आंकड़ों के विरूद्ध बयान दिया। क्या वह कुछ और हिम्मत दिखा सकेगा?

एड्स की रोकथाम का समाजशास्त्र

'एड्स और हमः उत्तराखण्ड में एड्स की संभावना' नाम से अलमोड़ा की एक स्वैच्छिक संस्था द्वारा छापी गई अध्ययन रपट पर स्थानीय जनाक्रोश प्रदर्शन देश के एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम के लिए एक महत्वपूर्ण पड़ाव साबित हो सकता है। इस आपत्तिजनक रिपोर्ट को केवल एक संस्था की काहिली या बेवकूफ़ी कह कर टाला नहीं जा सकता। ऐसा करना एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम के लिए आत्मघाती सिद्ध होगा व अन्य स्वयंसेवी संस्थाएं भी आत्म–मंथन का एक मौका गँवा देंगी।

स्वयंसेवी संस्थाएं आज देश में सामाजिक कर्म का एक व्यापक अंग बन गई हैं। कहीं वे लोगों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में व कहीं लोकशक्ति उभारने में मददगार साबित हुई हैं। परन्तु अनेक संस्थाओं के काम के नतीजे इन दोनों उद्देश्यों के विरूद्ध जाते हैं। उनका विकास का नज़रिया व कार्यशैली स्थानीय परिस्थितियों व सोच के अनुकूल नहीं, अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के पश्चिमी औद्योगिक–समाज केन्द्रित नज़रिए से रंगे हैं। यह रिपोर्ट दूसरी प्रकार के काम का स्पष्ट उदाहरण है। जिस समाज में संस्था कार्यरत है रिपोर्ट उसी के मूल्यों के प्रति हिकारत का भाव प्रदर्शित करके, उसके आत्म–सम्मान की चिन्ता न करते हुए, दोनों के बीच की खाई दर्शाती है। और यह 'स्थानीय' बनाम 'बाहरी' मूल का मुद्दा नहीं, मानसिकता की बात है।

दूसरी ओर यह भी महत्वपूर्ण है कि जो सोच यह अध्ययन रपट दर्शाती है वह एक किसी अकेली संस्था का नज़रिया नहीं, एड्स के सन्दर्भ में अंतरराष्ट्रीय कार्यक्रम का प्रतिबिम्ब है। स्पष्ट है कि अध्ययनकर्ता अपनी जवाबदेही स्थानीय सामान्य जन को नहीं, या तो 'विकास' के नाम पर अंतरराष्ट्रीय व्यवसायिओं के समुदाय को मानते हैं या, डॉक्टरी पेशे की तरह, इतने अहंकारी हैं कि अपने को किसी के प्रति जवाबदेह नहीं मानते ! इसका यह मतलब नहीं कि एड्स की समस्या पर काम न किया जाए, परन्तु यह कि अगर सामान्य जन के हितैषी एड्स पर काम करना चाहते हैं तो उन्हें इस कार्यक्रम के प्रमुख नज़रिए के निहितार्थ एवं उससे भिन्न दृष्टिकोण भी समझने चाहिएं व फिर अपने स्थानीय समाज के अनुकूल अपना रास्ता तय करना चाहिए।

एड्स के मुद्दे की तकनीकी व सामाजिक पेचीदगियाँ दोनों ही विवाद का कारण हैं। चाहे वह डाक्टर हों या सामाजिक कार्यकर्ता व विश्लेषक या 'सामान्य जन', सभी के मन में आज अनेक सवाल हैं जिनमें प्रमुख है कि 'क्या एड्स आज वास्तव में हमारे लिए इतनी बड़ी समस्या है, आगे चल कर इसके कितना बढ़ने की संभावना है'। यह एकदम वाजिब सवाल है क्योंकि विशेषज्ञ भी अभी तक अटकलें लगा रहे हैं और उनके द्वारा प्रसारित आँकड़े रोज़ बदल जाते हैं। विशेषज्ञों द्वारा आँकड़े बदलना भी वाजिब है क्योंकि एड्स बीमारी की जानकारी वर्तमान इन्सानी समाज में कुल 20 साल पुरानी भी नहीं है और सम्पूर्ण आँकड़े इकट्ठे करने की व्यवस्था का अभाव है। इसलिए विशेषज्ञ केवल अंदाजे ही लगा सकते हैं और बढ़ती जानकारी के साथ आँकड़े बदलते ही हैं। एपिडिमीयोलॉजी; आबादी में बीमारी के फैलाव की प्रक्रिया के अध्ययन का एक मूल सिद्धांत है 'अनिश्चितता' व 'संभाविता' (प्राबबिलिटी)। इसलिए अंदाज़ों व सम्भावनाओं के आधार पर ही एड्स के रोकथाम की योजना बनाई जाती है। यह प्रश्न ज़रूर पूछा जा सकता है कि आँकड़े ज़्यादा सटीक बनाने का काम इतने समय में क्यों नहीं हो सका? इस के लिए धनराशि की तो कोई कमी रही नहीं !

इस प्रश्न का उत्तर एड्स के काम की मूल अवधारणाओं में से निकलता है । एड्स पर काम का 15–20 साल का इतिहास देखें तो तीन विचारधाराएं स्पष्ट हैं। तीनों में से कोई भी दृष्टिकोण अपनाने वालों में एक बड़ा हिस्सा सामान्य जन का हितैषी है और इसी प्रेरणा से कार्यरत है। यह लेख इस जन हित की प्रेरणा को ही सम्बोधित है, उस निहित स्वार्थ की प्रेरणा को नहीं जो हर धारा में ही मिल जाएगी। किसी दृष्टि को समाज की सृजनात्मक ऊर्जा में जोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सबसे सकारात्मक पहलू पहचाने जाएं और उसे केवल निहित स्वार्थों का पोषक मान कर नकारा न जाए।

एक विचारधारा उनकी है जो एड्स को आज मानवता के समक्ष एक प्रमुख खतरा मानते हैं। 1981 में एक नई बीमारी के रूप में प्रकट हुई यह बीमारी जानलेवा और बहुत तीव्र गति से दुनिया भर में फैलती नज़र आई। तब लोग घबरा गए, खासकर पश्चिमी औद्योगिक समाजों के जो मानते थे कि वह संक्रामक रोगों पर जीत हासिल कर चुके थे । उन्होंने इसके खतरे को बढ़ा–चढ़ाकर कहा ताकि डर से अन्य समाज भी इससे बचाव के

लिए नियोजित तरीके अपनाने को तैयार हो जाएं। यह पाया गया कि एड्स का वायरस (एच.आई.वी) प्रमुखतः एक से अधिक व्यक्तियों से यौन सम्बन्ध रखने से फैलता है। यह भी मान लिया गया कि सभी समाजों में ऐसा व्यवहार बड़े पैमाने पर है व इसे बदलना सम्भव नहीं है। इसे बदलना वांछनीय भी नहीं माना गया क्योंकि यौन व्यवहार को प्राकृतिक भूख व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का इज़हार माना गया। इसलिए इसे 'सुरक्षित' बनाना ही एकमात्र उपाय है और 'सुरक्षित' यौन सम्बन्धों के लिए कण्डोम के प्रयोग को उपयुक्त माना गया। इस के लिए ज़ोर–ज़बरदस्ती से नहीं, लोगों के खुद खतरा मानने व कण्डोम का प्रयोग करने को ही कार्यक्रम की रणनीति माना गया। यही दृष्टिकोण विश्व–व्यापी एड्स नियन्त्रण कार्यक्रम का मूल आधार रहा है। इस के तहत 'खतरनाक' व्यवहार वाले व्यक्तियों व परिस्थितयों को खोजकर उनके बीच एड्स का ख़ौफ पैदा करना और उन्हें कण्डोम के प्रयोग के लिए प्रेरित करना कार्यक्रम का प्रमुख औज़ार बन गया।

इसी दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में यौन व्यवहार सम्बन्धी अध्ययन होने लगे। उनका ध्येय था 'खतरनाक' यौन व्यवहार को ज़्यादा–से–ज़्यादा ढूंढ निकालना ताकि ज़्यादा–से–ज़्यादा कारगर रोकथाम हो सके। इस सोच के चलते अनेक अध्ययनों का उद्देश्य यौन व्यवहार की सही तस्वीर जानना–पेश करना व उसका समग्र विश्लेषण करके रोकथाम के उपाय तय करना नहीं बल्कि पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के लिए आधार बनाना भर रह गया। अनेक अध्ययनों की रिपोर्ट इस बात का सबूत हैं।

इस दृष्टिकोण में कई विचार निहित हैं। एक, आधुनिक आयुर्विज्ञान (मेडिकल) की पुरानी पड़ती मान्यता कि संक्रामक रोगों का कारण केवल उसका कीटाणु है। अन्य कारक केवल इसलिए महत्वपूर्ण माने गए क्योंकि वह कीटाणु को फैलाते हैं, जैसे कि मलेरिया के मच्छर व उनको पनपाता पर्यावरण। एड्स विशेषज्ञों की मुख्यधारा ने यौन व्यवहार, नशीली दवाओं के सुई द्वारा सेवन आदि को भी केवल वायरस फैलाने का कारण माना, उनके व अन्य नशे, प्रदूषण, कुपोषण आदि द्वारा शरीर की रक्षात्मक शक्ति को कमज़ोर करने को नजरअन्दाज़ करा गया। इस दृष्टि में निहित दूसरा विचार है कि स्वास्थ्य व बीमारी सारी मानव जाति के लिए एक प्रकार से समझे जा सकते हैं व एक ढंग से ही उनसे निजात पाया जा सकता है। विज्ञान की यह 'यूनीवर्सल' अवधारणा भिन्न समाजों की पर्यावरणीय, सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं को नकारती है। मानव व्यवहार तक को एक ही ढाँचे में, वह भी पश्चिमी औद्योगिक ढाँचे में ही, डालकर देखती है। तीसरा निहित विचार है व्यक्ति की स्वतन्त्रता का। व्यक्ति को ढालने में सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को नज़रअन्दाज़ करके हर व्यक्ति के व्यवहार को उन्मुक्त इच्छा पर आधरित माना गया है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि रख कर सामाजिक नियन्त्रण को नकारात्मक माना गया है। उदारवादी सोच की यह व्यक्तिवादी, 'वैश्विक' अवधारणा विश्व बैंक की 'अनियन्त्रित बाज़ार' व उपभोक्ता की 'उन्मुक्त इच्छा' की अवधारणा वाली धारा से खूब मेल खाती है।

दूसरा दृष्टिकोण उनका रहा है जो अपने समाजों की केवल सुनहरी, अपनी समझ अनुसार 'आदर्श', तस्वीर देखना चाहते हैं और जो भी उनकी नज़र में उस पर 'कलंक'

बने उसे बदलने के लिए ज़ोर ज़बरदस्ती का इस्तेमाल करने में हिचकते नहीं। एड्स के हौव्वे ने उन्हें चाबुक चलाने का एक और बहाना दे दिया । अमरीका से लेकर भारत तक ऐसे कानून बनाने की पेशकश होती रही है जो एड्स का वायरस फैलाने वाले व्यवहार करने वाले व्यक्तियों को सख्त सज़ा दे। एड्स वायरस से ग्रस्त पाए जाने वाले व्यक्ति के मूल अधिकारों को ख़त्म कर उसे जेल में डालने के इस विचार वाले हिमायती रहे हैं। यही मानसिकता वायरस से ग्रस्त व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार करवाती है, यहां तक कि उन्हें जिंदा जलाने व गोली मार कर उड़ा देने की घटनाएं भी हुई हैं। भारत में ही उत्तर–पूर्वी राज्यों में उग्रवादी गुटों द्वारा व चेन्नई शहर में समुदाय के ही लोगों द्वारा ऐसे जघन्य काण्ड करने की घटनाएं इस सोच के खतरे उजागर करती हैं। इस दृष्टि वाले अक्सर परम्परा की दुहाई देते हैं परन्तु उसके सहिष्णु हिस्से को भूल जाते हैं। इस कट्टरपंथी विचारधारा का आग्रह रहता है कि व्यक्ति पर सामाजिक नियन्त्रण का सख्ती से पालन किया जाए और वह स्वछन्द व्यक्ति को दण्डित करने को तत्पर रहते हैं। परन्तु 'सही' व 'गलत' की भिन्न परिभाषाएं उन्हें स्वीकार्य नहीं व विपरीत सामाजिक परिस्थितियां लोगों को कैसे 'गलत' व्यवहार के लिए मजबूर करती हैं, यह वह देखने को तैयार नहीं ।

तीसरा दृष्टिकोण उनका रहा है जो एड्स को लोगों की अनेक समस्याओं में एक और जुड़ी समस्या के रूप में देखते हैं। वह इस पर नियन्त्रण को लोगों की ज़िन्दगी के पूरे परिप्रेक्ष्य में देखते हैं न कि केवल यौन सम्बन्धों को ;या नशीले पदार्थों के सेवन को जीवन का एक अलग हिस्सा मान कर। भारत में कई स्वास्थ्य विशेषज्ञ एड्स जैसी बीमारी के खतरे को नकारते नहीं रहे परन्तु उसे अन्य समस्याओं के चलते 'महत्वपूर्ण मगर प्रमुख समस्या नहीं' मानते रहे हैं। वे मानते हैं कि सामाजिक रिश्ते, आर्थिक परिस्थितियां व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य मिलकर किसी भी समाज में; व समाज के भिन्न वर्ग व जाति समुदायों में यौन सम्बन्धों के प्रति रवैया व व्यवहार तय करते हैं और इस सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य के अनुसार ही एड्स नियन्त्रण कार्य प्रभावी होंगे।

विभिन्न समाजों के भिन्न मूल्य व आदर्श हैं, उनमें बहुसंख्य के सामान्य व्यवहार (नॉर्म) भिन्न हैं, और सामान्य से हटकर व्यवहार करने वालों के प्रति रवैया भी भिन्न हैं। पश्चिमी औद्योगिक समाज में विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध व क्रमशः अनेक व्यक्तियों से यौन सम्बन्धों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। भारत के बहुसंख्य समुदायों में ऐसा नहीं है । नतीजतन उन समाजों के युवाओं में एक से अधिक व्यक्ति से यौन सम्बन्ध सामान्य व्यवहार है जबकि हमारे यहां अभी तक ऐसा नहीं है। भारत में अनेक सर्वेक्षण दिखाते हें कि बहुसंख्य पुरूष व महिलाएं वैवाहिक सम्बन्ध के भीतर ही यौन व्यवहार करते हैं। विश्वविद्यालयी छात्रों में अनेक सर्वेक्षणों का विश्लेषण दिखाता है कि अमरीका के 70–80 प्रतिशत यौन व्यवहार करते हैं जबकि भारत में यह 15–25 प्रतिशत है। भारत में यह संख्या वर्तमान में बढ़ने के संकेतों के बावजूद इतना बड़ा फर्क एपिडीमियालॉजी की नज़र से बहुत महत्वपूर्ण है। रोकथाम के लिए भी इससे स्पष्ट होता है कि कण्डोम जैसा उपाय ज़्यादा से ज़्यादा इस 15–25 प्रतिशत के लिए लागू होता है। सामाजिक–सांस्कृतिक विशिष्टताओं

को नज़रअन्दाज़ करने से इस फर्क को बनाए रखने के बजाए हमारे यहां विपरीत धारा की ओर दबाव बन रहे हैं। केवल कण्डोम के उपयोग से विवाह के बाहर यौन सम्बन्धों को 'सुरक्षित' कहना व्यक्ति को उदारवादी छूट देना ही नहीं, ऐसे व्यवहार को सामाजिक बढ़ावा देकर समाज व व्यक्ति पर नकारात्मक दिशा की ओर दबाव बनाना भी है । स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के पारस्परिक भावनात्मक व सामाजिक पक्षों को महत्वहीन बनाकर, पुरूषों को आत्म–संयम न रखने की सीख देकर, यौन आनन्द को उपभोग की वस्तु बनाकर, हमारे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यही नतीजा निकल सकता है कि स्त्रियों का यौन शोषण बढ़े व एड्स वायरस फैलाने वाला यौन व्यवहार बढ़े। विश्व के बाज़ार की दृष्टि में यह उपभोगवादी रवैया ही माफिक बैठता है। परन्तु किसी भी समाज के, व उसमें गरीब व महिला के, शुभचिन्तकों के लिए ये मुद्दे चिन्ताजनक हैं। इसीलिए कई स्रोतों से एड्स कार्यों के प्रति विरोध प्रदर्शित हुआ है, चाहे वह गोवा हो या दक्षिण अफ्रीका। उत्तराखण्ड में रिपोर्ट का विरोध करने वालों में भी एक प्रमुख हिस्सा ऐसे ही लोगों का है।

अगर इस तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार हम एड्स कार्यक्रम के तहत विश्लेषण करें कि 75–85 प्रतिशत विश्वविद्यालयी छात्र व कम–से–कम 50 प्रतिशत शहर में अकेले रहने वाले प्रवासी पुरूष यौन सम्बन्धों से कैसे दूर रहते हैं, तो अलग ही दृष्टि विकसित होगी। तब कार्यक्रम को उन सकारात्मक सामाजिक मूल्यों एवं प्रक्रियाओं को बढ़ावा देना होगा जो पारस्परिक स्त्री–पुरूष सम्बन्धों को मज़बूत करें, बराबरी के स्तर पर स्त्रियों को ताकत दें व उपभोगवादी संस्कृति के फैलाव पर रोक लगाएँ। सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करने का यह एक और मौका है जो हमारे समाज की ताकत बन सकता है। परन्तु इस के लिए एक समग्र संतुलित दृष्टि की आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि तीनों दृष्टिकोण एड्स के खतरे को मान रहे हैं। तीनों उससे निपटने की आवश्यकता के प्रति भी सजग हैं। परन्तु यह कैसे करना है इस पर मतभेद है। तीनों के बीच आदान–प्रदान होता रहा है। पहले सोच वालों ने पुरज़ोर दूसरी विचारधारा का विरोध किया है व कार्यक्रम का उदारवादी तेवर बनाने में काफी हद तक कामयाब रहे हैं। परन्तु वह शायद यह नहीं जान रहे हैं कि खतरे को बढ़ा चढ़ाकर कहने व डर पैदा करने से वही दूसरी सोच को पनपने का मौका दे रहे हैं। इससे सामाजिक ख़ौफ बढ़ने के साथ–साथ एड्स का काम भी पिछड़ जाता है क्योंकि मरीज़ आगे आकर सहायता लेने के बजाए छुपते रहते हैं। जब तीसरी सोच वाले विशेषज्ञों ने एड्स को हौव्वे के रूप में पेश किए जाने का विरोध किया तो पहली सोच वालों ने उनकी खिल्ली उड़ाई। कहा गया कि वह अपने समाज की 'असलियत' से आँख मूंद रहे हैं। जब उन्होंने कहा कि यौन सम्बन्धी 'सुरक्षा' केवल कण्डोम से नहीं, आत्म–संयम से भी मिलती है और इसके लिए सामाजिक–सांस्कृतिक रवैया या अनेक समाजों में व्याप्त है तो कहा गया कि वह अपनी मध्यम–वर्गीय नैतिकता औरों पर थोप रहे हैं !

फिर भी तीसरी सोच द्वारा लगातार संवाद एवं दूसरे दृष्टिकोण के खतरों के अहसास से पहले दृष्टिकोण में बदलाव आया। अन्य बीमारियों की रोकथाम के मुकाबले एड्स के

संदर्भ में सामाजिक स्थितियों को काफी महत्व दिया गया। कण्डोम के अलावा एक ही यौन–साथी की बात के प्रचार को भी महत्व मिलने लगा है। पहली सोच वाले भी एड्स के आँकड़ों को ज़्यादा संयत ढंग से कहने लगे हैं, जैसे कि पिछले वर्षों में नैशनल एड्स कंट्रोल ऑरगेनाइज़ेशन देश में सम्भावित एड्स वायरस से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या के अपने आंकलन को लगातार घटाता रहा है ;80 लाख से 40 लाख, 40 लाख से 25 व 35 लाख के बीच।

परन्तु अधिकांश एड्स समबन्धी विश्लेषण अभी भी सामाजिक कारकों को सतही ढंग से ही देखते हैं। जैसे कि वह पुरूषों के अकेले अप्रवास या गरीबी से एड्स का सीधा रिश्ता जोड़ते हैं, बिना अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं के असर को समझे–बूझे। आर्थिक वैश्वीकरण से बढ़ते यौन–व्यापार, शहरी गरीब बस्तियों में ब्लू फिल्म पार्लर खुलने या सामान्य मीडिया में भौंडे ढ़ंग से यौन व्यवहार व महिलाओं के यौन चिन्हों के रूप में प्रदर्शन के प्रति कोई चिन्ता न होना एड्स कार्यक्रम द्वारा व्यापक सामाजिक कारकों की अनदेखी के उदाहरण हैं।

ऐसी परिस्थिति में जो तीसरी सोच अपनाते हैं उनका दायित्व स्पष्ट है – ऐसी दृष्टि बनाना व उस ओर सामाजिक ऊर्जा को प्रोत्साहित करना जिसमें एक, एड्स जैसी समस्या के लिए शारीरिक ही नहीं सामाजिक व सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को भी महत्व दिया जाए और दूसरा, कि हर समाज और समाज के हर समूह की विशिष्टता अनुसार उसकी ताकत को बढ़ावा देते हुए कमज़ोरियों से निजात पाने के लिए प्रयास किए जाएं। इस के लिए अन्य दोनों दृष्टि वालों से संवाद करके ही एक संतुलित, अपने समाज में जड़ें जमाकर परन्तु व्यापक दृष्टि रखते हुए, स्थायी एवं प्रभावी कार्यशैली गढ़ी जा सकेगी । सामयिक संदर्भ में 'ज़िम्मेवार यौन व्यवहार' के लिए व्यक्ति, समुदाय व समाज के रिश्तों की सामूहिक परिभाषा, क्षेत्रीय व वैश्विक स्तरों पर, तभी विकसित हो सकेगी। अन्य स्वास्थ्य व सामाजिक समस्याओं की तरह ही एड्स सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण भी सामाजिक प्रवाहों व संस्कृति की राजनीति का हिस्सा हैं। और लोकतान्त्रिक तरीके से हावी धारा के खिलाफ विरोध प्रदर्शन एवं उसके साथ–साथ सभी विचारधाराओं के बीच संवाद से ही सकारात्मक रास्ता ढूंढा जा सकता है। ■

आवश्यक है आयोडीनयुक्त नमक के विज्ञान की संपूर्ण समीक्षा*

रितु प्रिया व इमराना कदीर

सरकार ने मई 2000 में सामान्य नमक पर लगे देशव्यापी प्रतिबंध की समीक्षा करने का निर्णय लेकर एक आवश्यक क़दम उठाया । इस पर जनता की राय मांगकर उन्होंने और भी सराहनीय काम किया । यह भी स्वागत योग्य बात हुई कि राजनीतिक पार्टियों ने भी इस बहस में हिस्सा लिया । लेकिन अगर नमक में आयोडीन मिलाने को अपने देश में अनिवार्य करने के फ़ायदे और नुक़सान का सही आकलन करना है तो रोग प्रसार विज्ञान (एपिडीमियोलॉजी) के कुछ गंभीर सवालों का उत्तर देना अब भी बाक़ी है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि विकास के लोकतांत्रिक स्वरूप में विश्वास रखने वाले वामपंथी समूहों, क्रांतिकारी गांधीवादियों और मुख्यधारा से अलग राय रखने वाले विशेषज्ञों ने इस मामले में जो मुद्दे उठाए हैं, उन्हें अब तक सरकारी तंत्र, राजनीतिक पार्टियों, और अंग्रेज़ी प्रेस ने समान रूप से नज़रअंदाज किया है । प्रतिबंध के शुरूआती विरोधों में केरल शास्त्र साहित्य परिषद् की 1989 की पुस्तिका का उल्लेख ज़रूरी है, जिसमें डा. के. पी. अरविदंन ने वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर इस निर्णय की आलोचना की है । जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्याालय के सामाजिक चिकित्सा और सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र के प्रोफेसर डी बनर्जी 1985 से ही नमक में आयोडीन के सर्वत्रीकरण (देश भर में लागू करने) का विरोध करते आये हैं । क्रांतिकारी गांधीवादियों का प्रमुख संगठन सर्व सेवा संघ 1997 से इसके विरोध में लोगों को इकट्ठा करने का काम कर रहा है और जनांदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय तथा दूसरे संगठनों के साथ संयुक्त रूप से देश भर में आंदोलनात्मक कार्यक्रम कर चुका है । केवल पिछले कुछ माह में स्वदेशी जागरण मंच प्रतिबंध के विरोध में खड़ा हुआ है और इसके बाद ही मंत्रालय द्वारा प्रतिबंध की समीक्षा का निर्णय लिया गया । परंतु 31 अगस्त की बैठक में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री एवं अनेक राज्यों के स्वास्थ्य मंत्रियों ने प्रतिबंध जारी रखने की अपनी राय सार्वजनिक की है । कोई भी निर्णय लेने से पहले हर राज्य एवं केन्द्रीय मंत्रालय को अनेक मुद्दों की समीक्षा करके अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना चाहिए । साथ ही उन्हें जनता को अपनी राय का आधार भी बताना चाहिए – यही किसी सरकार की पारदर्शिता, स्वच्छता एवं जवाबदेही का तक़ाज़ा है ।

यहाँ मुद्दा यह है कि जन स्वास्थ्य संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों में से हम किसे अपनाएं। क्या हम जन स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं की पहचान एवं समाधान के तरीक़े को राष्ट्रीय ही नहीं विश्व स्तर पर केंद्रीकृत कर देना चाहते हैं, जबकि इन दिनों विकेंद्रीकरण को अच्छे

---

*11 दिसम्बर 2000 को जनसत्ता में सम्पादकीय पृष्ठ पर शीर्षक 'नमक नमक कितना आयोडीन' के तहत छपा लेख। सह लेखक डॉ. इमराना कदीर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थीं।

शासन की कुंजी माना जाता है ? या हमें हर क्षेत्र एवं उप–क्षेत्र की प्रमुख समस्या की पहचान करके स्थानीय संदर्भों के लिए सबसे अनुकूल समाधान निकालना है ? आयोडीन रहित नमक पर प्रतिबंध के सार्वत्रीकरण का विरोध करने वाले दूसरा दृष्टिकोण अपनाने की बात कर रहे हैं । उनका कहना है कि जहाँ आयोडीन की कमी सही में एक समस्या है वहां आयोडीन युक्त नमक का उपयोग किया जाए और जिन क्षेत्रों में ऐसी समस्या नहीं है वहां के लोगों को किसी तरह के नमक के उपयोग की छूट हो और उन्हें आयोडीन युक्त नमक खाने के लिए मजबूर नहीं किया जाए । प्रतिबंध के समर्थकों का कहना है कि यह तरीक़ा पहले अपनाया जा चुका है लेकिन सफल नहीं रहा । हमारा मानना है कि इस विफलता के संभावित वजहों का विश्लेषण किए बग़ैर प्रतिबंध के सार्वत्रीकरण का निर्णय लिया गया था।

विफलता के क्या कारण थे ? नमक के आयोडीनीकरण के कार्यक्रम के दस्तावेज़ों में यह स्वीकार किया गया है कि आयोडीनयुक्त नमक की क़ीमत सामान्य नमक से अधिक होना प्रमुख कारण था । प्रतिबंध के समर्थकों को क़ीमतों का फ़र्क़ 'मामूली' नज़र आता है परन्तु वह आम जनता की आर्थिक तंगहाली की समस्या, उसमें उनके विवेकशील निर्णयों की प्रक्रिया को नहीं समझ रहे हैं । लोगों द्वारा आयोडीनयुक्त नमक की अतिरिक्त क़ीमत नहीं देने के पीछे दो कारण हो सकते हैं । या तो विशेषज्ञों द्वारा चिन्हित क्षेत्रों में वास्तव में आयोडीन की कमी सामान्य जन के जीवन में महत्वपूर्ण समस्या नहीं है, या कार्यक्रम के तहत लोगों को आयोडीन की कमी के संभावित ख़तरों और आयोडीनयुक्त नमक के महत्व के बारे में ठीक से समझाने की पर्याप्त कोशिश नहीं हुई । दोनों ही इस बात का संकेत हैं कि हमारी स्वास्थ्य सेवा व कार्यक्रम उन लोगों से कितने दूर हैं जिनके नाम पर यह बने हैं । इसी दूरी के कारण तकनीकी नौकरशाह आयोडीन की कमी वाले क्षेत्रों में आयोडीयुक्त नमक के उपयोग को अनिवार्य बनाने के मामले में मिली असफलता के इन कारणों को नज़रअंदाज कर क़ानूनी प्रावधानों के ज़रिए इसका समाधान ढूंढ रहे हैं । उनके अनुसार प्रभावी होने के लिए सामान्य नमक पर प्रतिबंध को पूरे देश में लागू करना ही एकमात्र तरीक़ा बचा है । इसका निहितार्थ है कि उन लोगों पर भी यह तकनीकी हल लागू होगा जिनको आयोडीन संबंधित समस्या है ही नहीं !

इससे देश की जनता पर आर्थिक भार तो पड़ेगा ही साथ ही, नमक के उत्पादन व वितरण का केन्द्रीकरण होगा। परन्तु मामला और भी चिन्ताजनक है क्योंकि आयोडीनयुक्त नमक के सार्वत्रीकरण का स्वास्थ्य संबंधी वैज्ञानिक आधार भी कमज़ोर है। और शायद इस वैज्ञानिक पक्ष की समीक्षा की ही नहीं जा रही है । आयोडीन में नमक के सार्वत्रीकरण के पूरे अभियान की शुरूआत इस समझ से हुई है कि जिस आबादी में घेंघारोग (गले के अगले हिस्से में थायराइड ग्रंथि का फूल कर बड़ा हो जाना) उपस्थित है उसमें क्रेटिनिज़्म (नवजात शिशुओं में जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक अवरोध का गंभीर रूप) तथा विभिन्न निम्न स्तरों की 'अनपहचानी मानसिक अवरूद्धता' होती है । लेकिन इस समझ के सबूत के बतौर जो आंकड़े दिए जाते हैं उनकी बहुत सीमाएं हैं । उनकी पहली त्रुटि है कि आयोडीन को गंभीर कमी से प्रभावित छोटे क्षेत्रों के अध्ययन से निकाले गए निष्कर्ष को पूरे देश की

आबादी पर लागू कर दिया गया है । दूसरा, प्रयोगशाला में रक्त की जांच द्वारा पाई गई आयोडीन की कमी वाले व्यक्तियों में न तो औरों से अधिक थायराइड हारमोन की कमी के सबूत प्रदर्शित किए गए हैं और न ही उसके व्यावहारिक लक्षण ही । तीसरा, जिन परीक्षणों के आधार पर अनपहचाने मानसिक अवरोध का दावा किया गया है वही संदिग्ध हैं । उनमें सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि संबंधी पूर्वाग्रह हैं जिससे सामान्य ग़रीबों और ग्रामीणों को 'अल्पबुद्धि' क़रार दिया जा सकता है । लघु आकार वाले घेंघा की जांच का चिकित्सकीय परीक्षण भी परीक्षक के विवेक पर आश्रित है और इसलिए पूर्वाग्रहों के असर की पूरी संभावना रहती है । आशा है केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री के वक्तव्य में अगले वर्ष में होने वाले जिस सर्वेक्षण की बात कही गई है उसमें इन मुद्दों को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाएगा ।

तथ्यों की कमज़ोरी को देख कर आयोडीन के सार्वत्रीकरण के पक्षधरों पर यह आरोप लगाना स्वाभाविक है कि उन्होंने समस्या को बढ़ा–चढ़ा कर पेश किया है । रोग प्रसार विज्ञान में जांच के तरीक़े तथा आबादी पर इसे लागू करने को लेकर कठिनाई रहती है । लेकिन किसी निष्कर्ष की वैधता स्थापित करने का यही उपाय है कि अन्य वैज्ञानिक उसे जाँच–परख लें । दुर्भाग्य है कि आयोडीन की कमी के मामले में भारत में जो भी शोध हुआ है उसे मुख्य तौर पर वैज्ञानिकों के एक ही समूह ने किया है । गंभीर रूप से प्रभावित क्षेत्र की समस्या का इस समूह द्वारा अध्ययन अग्रणी था, परंतु फिर दूसरी इकाइयों को शोध के लिए प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि रोग प्रसार विज्ञान की तकनीक–केंद्रित विचारधारा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर संरक्षण एवं राष्ट्रीय अफ़सरशाहों में मान्यता प्राप्त है । इससे देश वैकल्पिक आंकड़ों से वंचित रह गया और समस्या के बारे में वैज्ञानिकों के एक ही समूह की राय देश में प्रभावी हो गई । वैज्ञानिकता का तक़ाज़ा तो यही है कि इन बहुत ही प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों के शोध को भी अन्य दृष्टिकोण वाले वैज्ञानिकों द्वारा जांच लिया जाए ।

जनस्वास्थ्य के वैज्ञानिक नियोजन की दृष्टि से अन्य कई सवाल अभी भी अनुतरित हैं। पहला सवाल है कि आयोडीन की कमी से गंभीर रूप से ग्रस्त जिलों में आयोडीन की कमी के कारण मानसिक कमज़ोरी और क्रेटिनिज़्म की स्थिति क्या है ? अगर यह एक बड़ी समस्या नहीं है तो घेंघा रोग को सौंदर्य संबंधी समस्या ही मानना चाहिए । शरीर के विकास की विभिन्न स्थितियों, जैसे कि युवावस्था, गर्भावस्था आदि, के दौरान घेंघा होना सामान्य बात है व कोई बीमारी का लक्षण नहीं है । क्रेटिनिज़्म और घेंघा में अनिवार्य और स्वाभाविक संबंध भी नहीं है । यह बात उसी विशेषज्ञ टीम द्वारा किए सर्वेक्षणों से स्पष्ट दिखती है । भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् के लिए उनके द्वारा 1989 में किया घेंघा व क्रेटेनिज़्म रोग पर सर्वेक्षण दिखाता है कि जिन जिलों में आयोडीन की कमी या घेंघा अधिक पाए गए उनमें अनिवार्यतः क्रेटेनिज़्म अधिक नहीं पाया गया । साथ ही, देश के किसी भी ज़िले में घेंघा का वह स्तर नहीं पाया गया जिसे इसी विशेषज्ञ टीम द्वारा क्रेटेनिज़्म का ख़तरा बढ़ने का सूचक स्तर माना गया है ! इसे दूसरी ओर से देखने पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कई तरह के कारकों (जैविक या रासायनिक) के मेल ने कुछ ख़ास क्षेत्रों मे घेंघा का ऊँचा स्तर पैदा किया है ?

दूसरा सवाल आयोडीन की ज़्यादा मात्रा से होने वाले कुपरिणामों का है ख़ासकर उन स्थानों पर जहां आहार में यह पर्याप्त मात्रा में पहले ही मौजूद है । 1999 में जयपुर में आयोडीनयुक्त नमक के फ़ायदे तथा सुरक्षा पर हुए वैज्ञानिकों के राष्ट्रीय संवाद का सर्वसम्मत बयान था कि भारत में 10 ग्राम नमक के औसत उपभोग से प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन 500 माइक्रोग्राम आयोडीन का उपभोग होता है । यह रोजाना 1000 माइक्रोग्राम के अधिकतम सुरक्षित उपभोग से आधा है । लेकिन व्यस्कों के लिए 100–300 माइक्रोग्राम की प्रतिदिन की स्वीकृत मात्रा से यह कहीं ज़्यादा है । क्या आबादी के एक बड़े हिस्से को इस रसायन की इतनी मात्रा के उपभोग के लिए बाध्य किया जाना चाहिए ? आख़िरकार इस रसायन के अपने हानिकारक प्रभाव हैं । और सरकार मानवाधिकारों के लिए प्रतिबद्ध होने का दावा भी करती है।

तीसरे सवाल का जवाब भूमि तथा कृषि वैज्ञानिकों को देना है – आयोडीन की कमी उन भौगोलिक क्षेत्रों में भी क्यों फैल रही है, जो पहले इससे मुक्त थे ? अगर कृषि के वर्तमान तरीक़े, जिसमें रासायनिक खाद शामिल है, इसके लिए ज़िम्मेदार हैं तो हमें इसके उपाय सोचने होंगे ताकि आगे प्रसार को रोका जा सके । ज़्यादातर स्वास्थ्य समस्याओं की जड़ें पर्यावरणीय तथा सामाजिक परिस्थितियों में हैं । इसलिए जनस्वास्थ्य की वैज्ञानिक दृष्टि का तक़ाज़ा है कि इन मूल कारणों को पहचान कर इनका गैर–चिकित्सकीय हल लागू करना भी आवश्यक है । सिर्फ़ आयोडीनयुक्त नमक देना इस सिद्धांत के ख़िलाफ़ है ।

तो फिर क्या आयोडीनयुक्त नमक की देशव्यापी अनिवार्यता के अलावा हल संभव हैं? गंभीर रूप से प्रभावित क्षेत्रों की समस्या का मुक़ाबला करने के लिए दो वैकल्पिक तरीक़े उपलब्ध हैं । नमक या पानी के आयोडीनीकरण का काम स्थानीय स्तर पर सामुदायिक सहभागिता से करने के कार्यक्रम थाईलैंड जैसे कुछ देशों में काफ़ी सफल साबित हुए हैं। दूसरा विकल्प है इन क्षेत्रों में सबसिडी देकर आयोडीनयुक्त नमक को आयोडीन रहित नमक से सस्ता बनाना। कम प्रसार वाले तथा नए क्षेत्रों में प्रसार के कारणों की जांच के लिए शोध की तत्काल ज़रूरत है, जिससे उचित उपाय करके प्रक्रिया को उल्टी दिशा में ले जाया जा सके। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि अल्पाइन यूरोप में सामाजिक आर्थिक स्थितियां विकसित होने के साथ–साथ बिना किसी विशेष आयोडीनीकरण कार्यक्रम के आयोडीन की कमी से होने वाली विकृतियां भी ख़त्म हो गईं थीं । इस प्रकार बहुआयामी समस्या का बहुआयामी हल ही सर्वाधिक टिकाऊ समाधान हो पाएगा ।

इन तथ्यों एवं विकल्पों को देखते हुए हम यही उम्मीद करते हैं कि सरकार वैज्ञानिक तर्कों की भी समीक्षा करके ही कोई निर्णय लेगी । हम यह भी उम्मीद करते हैं कि जनता से राय ली है तो समीक्षा की प्रक्रिया एवं निर्णय के आधार भी जनता के सामने स्पष्ट रूप से रखे जाएँगें । सरकार को ऐसे मामलों में वैज्ञानिकता एवं लोकतांत्रिकता दोनों के ही तक़ाज़ों को मानना चाहिए । ■

पारम्परिक व आधुनिक आहार ज्ञान के बीच संवाद : प्रयास और चुनौतियाँ

कार्यशाला क्यों ?

इस कार्यशाला के पीछे सोच के मुख्यतः दो बिंदु हैं :–

1. आधुनिक आयुर्विज्ञान की सीमाओं को देखते हुए आयुर्वेद से बहुत कुछ लिया और सीखा जा सकता है। आहार–पोषण के विषय की बारीकी व पेचीदगियों को उनकी समग्रता में समझने में आयुर्वेद का बहुत योगदान हो सकता है।
2. हमारे देश में स्वास्थ्य (जिसमें पोषण–आहार शामिल है) की लोक परम्पराओं व आयुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आज अगर लोक–परम्पराओं को मजबूत करना है तो उनसे जुड़े विज्ञान, आयुर्वेद, को बल देना होगा। आज अनेक परम्पराएं जो आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार 'वैज्ञानिक' हैं, अंधविश्वास या गैर–वैज्ञानिक करार कर नष्ट की जा रही हैं। आधुनिक विज्ञान की सीमित कसोटियों से उन्हें परखा नहीं जा सका, न ही कोई गम्भीर प्रयास हुआ कि उन्हें समझा जाए।

उपरोक्त समझ से प्रेरित इस कार्यशाला के मुख्य लक्ष्य थे :–

1. आहार–पोषण से सम्बन्धित आधुनिक वैज्ञानिकों, डाक्टरों आदि व वैद्यों के बीच संवाद की शुरूआत करना।
2. शिक्षा व अनुसंधान के आधुनिक संस्थानों में आयुर्वेद के लिए जगह बनाना व उनमें इस ओर सृजनात्मक ढंग से पहल की तैयारी करना।
3. आयुर्वेदिक विज्ञान में आहार–पोषण व आज के संदर्भ में उसकी उपयोगिता पर लेख–संग्रह तैयार करना।
4. लोक शिक्षण व स्वास्थ्य कार्यक्रमों में लगे लोगों को आहार की आयुर्वेदिक दृष्टि से परिचित कराना।

***15–21 दिसम्बर 1986 को कालड़ी, जिला एरनाकुलम, केरल में 'आहार–पोषण का स्वदेशी विज्ञान विषय पर कार्यशाला हुई। 'लोक स्वास्थ्य परम्परा संवर्धन समिति' की पहल पर निम्न छः संस्थाओं की ओर से यह आयोजित की गई – इंन्टरनैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डवैलपमैंट साईंस, करजत ; लोक स्वास्थ्य परम्परा संवर्धन समिति ; वालन्टरी हैल्थ एसोसिएशन ऑफ इन्डिया ; पेट्रीयॉटिक पीपल्ज साईंस एंड टेक्नॉलोजी नेटवर्क, मद्रास। भारत सरकार के विज्ञान व प्रौद्योगिकी विभाग एवं काउंसिल फोर एडवांसमैंट ऑफ रूरल टेकनॉलोजी (कार्ट) से आर्थिक सहायता मिली थी।**

कार्यशाला के सहभागी

100 से अधिक सहभागी थे। महाराष्ट्र से पॉच वैद्यों की टीम ने अधिकांश सत्रों का संचालन किया व आयुर्वेद के मूल सिद्धांत और आहार–पोषण का ज्ञान सरल ढंग से रखा। केरल के तीन वैद्यों ने भी पर्चे पढ़े व कई और वैद्य भी कार्यशाला में थे। सहभागियों में 5–6 डाक्टर थे, 10–15 आधुनिक पोषणविद् जीव–रसायन शास्त्री व गृह विज्ञान विशेषज्ञ, कुछ समाजशास्त्री अनेक सामाजिक कार्यकर्त्ता (कुछ स्वास्थ्य कार्यक्रमों में लगे हैं, कुछ विज्ञान, तकनीकी व विकास के मुद्दे में रूचि रखते हैं व कुछ परम्परा संवर्धन के काम में सक्रिय हैं) और 25–30 आयुर्वेदिक छात्र–छात्राएं।

कार्यक्रम

15 से 21 दिसम्बर, एक सप्ताह का कार्यक्रम था। पहले सत्र में स्वामी राधवानन्द जी द्वारा उद्घाटन हुआ और श्री दर्शन शंकर ने कार्यशाला की परिकल्पना बताई। आधुनिक आयुर्विज्ञान की सीमाओं व आयुर्वेद के सकारात्मक पक्ष और सम्भावनाओं पर पर्चे पढ़े गए। दूसरे सत्र की शुरूआत आयुर्वेद के दर्शन व वैज्ञानिक पद्धति पर पर्चों से हुई और फिर आयुर्वेदिक वैज्ञानिक जानकारी का दौर शुरू हो गया। दो ढाई दिन में शारीरिक संरचना व प्रकियाओं (जिनमें पाचन क्रिया व 'मेटाबोलिज्म' – 'अग्नि'–प्रमुख थे) की आयुर्वेदिक समझ से परिचय कराया गया। उसके बाद खाद्य पदार्थों के अलग–अलग गुणों व शरीर पर प्रभाव ('द्रव्य गुण विचार') के आयुर्वेदिक तरीके व उसके अनुसार द्रव्यों के वर्गीकरण की चर्चा की गई। 'योग्य–आहार' (आधुनिक 'सन्तुलित आहार' के सम्य मान सकते हैं) क्या है, यह तय करने के विभिन्न पहलू क्या हैं, इस विषय में विस्तार से चर्चा की गई खासकर ऋतु–चक्र के अनुसार आहार के बारे में। विभिन्न स्रोतों से लिए गए जल के अलग–अलग गुणों व जल साफ करने के उपायों पर एक पर्चा पढ़ा गया। एक सत्र मातृ–शिशु पोषण पर ही था। इस सब मूल जानकारी के अलावा कई अन्य पर्चे पढ़े गए जैसे कि 'बुढ़ापे में आहार, ऑखों के लिए अच्छे आहार, हड्डियों को मजबूत करने वाला आहार; विभिन्न वर्तमान इस्तेमाल के खाद्य तेलों के गुण, शहद के गुण, मद्य व शक्कर के गुण; आहार व बीमारी से लड़ने की शक्ति, शरीर के पोषण की स्थिति–कुपोषण की जांच के तरीके; तमिलनाडू व केरल के सरकारी ऑगनवाड़ी कार्यक्रम के आहार–पोषण वाले हिस्से का आयुर्वेदिक दृष्टि से मूल्यांकन।

इस पाठ्यक्रम के अलावा 'मर्म–चिकित्सा' के विशेषज्ञ ने अपनी विद्या का परिचय दिया, मालिश की एक खास विधि दर्शाई गई, नाड़ी परीक्षण किया गया व इच्छुक सहभागियों की 'प्रकृति' जांची गई। सत्रों के दौरान विभिन्न स्वास्थ्य वर्धक पेय पिलाए गए व उनको बनाने की विधि लिखित दी गई। बीमार या कमजोर स्थिति में दिए जाने वाले चावल–दाल से बने पेय व मांड की विधि भी प्रदर्शित की गई।

आयुर्वेद के ज्ञान से पहला परिचय करने वाले मेरे जैसे व्यक्ति को लगा कि आयुर्वेद

में स्वास्थ्य व स्वस्थ रहने और बीमारी से बचने के उपायों पर समग्र दृष्टि है। हर व्यक्ति व बीमारी को पूरे पर्यावरण के संदर्भ में देखा जाता है न कि एक विशेष कारण या विशिष्ट उपाय के रूप में। हर व्यक्ति को उसके पूरे सामाजिक व प्राकृतिक वातावरण के परिपेक्ष्य में उसकी आन्तरिक विशिष्टताओं को ध्यान में रख कर देखा जाता है। इन सब पहलुओं के आधार पर विशद विश्लेषण व व्याख्या की गई है। आहार, विहार व इलाज तीनों पर यह बातें लागू होती हैं। उदाहरण के लिए–'योग्य आहार' विभिन्न पहलूओं – व्यक्ति की 'प्रकृति', अवस्था, उम्र; काल – दिन में खाने का समय; ऋतु; देश – उस इलाके की मिट्टी, जलवायु, फसल आदि आहार द्रव्य गुण; आहार–विधि; मात्रा; खाद्य द्रव्यों का सम्मिश्रण व पकाने की विधि; व्यक्ति की आदत के अनुसार तय किया जाता है।

आगामी कार्यक्रम की योजना

आखिरी एक–डेढ़ दिन आगे लिए जाने वाले कार्यक्रम पर लगाया। शोध, लोगों के बीच सामूहिक कार्य, अभियानात्मक व नीति–निर्धारण पर प्रभाव डालने का काम और शिक्षा में आयुर्वेद – इन चार विषयों पर अलग–अलग समूहों ने चर्चा की। कुछ प्रमुख निर्णय/सुझाव थे :–

1. **शोध** – कुछ संस्थानों में आयुर्वेदिक सिद्धांतों व जानकारी का विश्लेषण करने का प्रयास हो।

– संभव शोध–विषयों की सूची बनाकर भावी शोधकर्त्ताओं को उपलब्ध कराई जाए।

– एक ही समस्या के आधुनिक व आयुर्वेदिक इलाज प्राप्त अनेक मरीजों का विभिन्न पहलुओं से विश्लेषण (इलाज के नतीजे, ठीक होने में समय, आर्थिक खर्च, आने जाने का कष्ट, इलाज के दुष्प्रभाव, सामाजिक प्रभाव आदि–आदि) होना चाहिए।

इस सन्दर्भ में समस्या रही कि किन सिद्धांतों के आधार पर शोध होगा – जैसे कि द्रव्यों के 'गुण' जांचे या कि जीव–रसायनिक विश्लेषण किया जाय?

2. **लोगों के बीच सामूहिक काम** – मातृ–शिशु पोषण पर सभी समूह अपने–अपने क्षेत्र में सर्वेक्षण करेंगे।

– स्थानीय वनस्पति व जड़ी–बूटियों की जानकारी इकट्ठी की जाएगी।

– स्थानीय जंगलों को बचाने व नए जंगल लगाने के काम की ओर प्रयास किया जाएगा।

3. **अभियानात्मक व नीति** –निर्धारण को प्रभावित करने वाला काम – सरकार से एक

ज्ञापन द्वारा कई माँगे की जाएंगी – स्वास्थ्य बजट में से स्वदेशी पद्धतियों के लिए आधे हिस्से की मांग स्वदेशी स्वास्थ पद्धतियों के लिए एक 'मिशन' बनाने को जिसका काम होगा इनको सशक्त करना व स्वास्थ्य व्यवस्था में इन्हें प्रभावकारी ढंग से शरीक करना। (इसके तफसील पर और काम चल रहा है।)

4. **शिक्षा** – स्कूलों के बच्चों व आहार–पोषण और गृह–विज्ञान के छात्रों के लिए आयुर्वेद के अनुसार पोषण पर पाठ्यक्रम बनाया जाएगा।

निर्माण मजदूरों व बच्चों की देखभाल का काम कर रही स्वयंसेवी संस्था की ओर से कहा गया कि अगर कुछ वैद्य ऐसे बच्चों के लिए पोषण के कार्यक्रम की रूपरेखा बना दें तो उसे लागू करके देखा जा सकता है। सफल होने पर सरकारी कार्यक्रमों को आयुर्वेद के अनुसार बनाने की मांग की जा सकती है।

ज्ञान–संवाद की चुनौतियाँ : कुछ निष्कर्ष

कार्यशाला कालड़ी के रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के बड़े परिसर में हुई। पेरियार नदी के तट पर स्थिति, केरल की हरियाली के बीच, सभी सुविधाओं से लैस, वहाँ का प्राकृतिक वातावरण बहुत सुखद था। आयोजकों ने आयुर्वेदिक छात्रों के सहयोग से बढ़िया इन्तजाम किया था। दिन शुरू करते ही कार्यशाला के उद्देश्य की याद दिलाता था आयुर्वेदिक मंजन का डिब्बा जो हर कमरे में रखा गया था। पीने के पानी को स्वास्थ्यकारक बनाने के लिए जड़ी–बूटियों सहित उबाला जाता था। दोनों सत्रों में स्वास्थवर्धक पेय दिया जाता था। इस सब से आधुनिक जीवन से हटकर एक उपयुक्त माहौल बनाने की कोशिश की गई। यह विचार व प्रयास तो अपने आप में अच्छा था परन्तु बहुत हद तक सफल नहीं हुआ, शायद इसलिए कि (1) स्वदेशी लोक–परम्पराओं को वास्तव में जीने वाले 'लोग' इस कार्यशाला में नहीं थे, और (2) संवाद संतोषजनक नहीं हो पाया।

प्रश्नोत्तर व अनौपचारिक बातचीत के दौरान आधुनिक विद्या प्राप्त लोगों व वैद्यों के बीच संवाद की प्रक्रिया व उससे उत्पन्न संभावनाओं संबंधी समझ बनी व मन में प्रश्न खड़े हुए :–

- कार्यशाला में आये आधुनिक ज्ञान में शिक्षित लोग आयुर्वेद के प्रति सहानुभूति रखने वाले ही थे ; कट्टर आधुनिकतावादी वैज्ञानिक सामाजिक कार्यकर्त्ता आदि से सम्पर्क किया गया था परन्तु वह इसमें आए ही नहीं थे।

- ऐसे लोगों को भी आयुर्वेद के सिद्धांत व परिभाषाएं समझने में काफी परेशानी होती है, एक लम्बे सिलसिले के दौरान ही यह सम्भव है। धैर्य रखते हुए दूसरे दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करना होगा।

- वैद्यों में अपने ज्ञान के प्रति अहंकार भी है और सामाजिक उपेक्षा के कारण नीचा

माने जाने का डर भी। इसलिए कई बार अपनी समझ बनाने के लिए पूछे गए प्रश्नों पर भी उन्हें लगा कि आयुर्वेद पर आक्रमण हो रहा है। आधुनिक शिक्षित लोगों द्वारा 'नासमझी' की स्थिति मे पूछे गए प्रश्नों व वैद्यों के इस रूख के कारण कई बार कटुता भी आने लगती थी।

- कुछ वैद्य अपनी 'भाषा' बदले बिना अपना ज्ञान समझाने का प्रयास कर रहे थे और कुछ आधुनिक उदाहरणों आदि द्वारा। पहली प्रकार वालों को समझने के लिए आधुनिक लोगों को ज्यादा प्रयास करना पड़ेगा। दूसरे वाले तरीके में आयुर्वेद के साथ जुड़ी संस्कृति व मूल्य छूटते हुए लगे। इनके बिना क्या आयुर्वेद अपनी अस्मिता बचा सकता है या मजबूत बन सकता है? परन्तु पहले तरीके से अगर लोग पहले ही डर जाएं और समझने का प्रयास ही न करें तो मजबूती की बात हो सकती है क्या?

- शास्त्रीय ज्ञान को खास आज की स्थितियों के अनुसार कैसे इस्तेमाल कर सकते हैं इसके कुछ प्रयासों की जानकारी मिली – जैसा कि आज के खाद्य तेलों का आयुर्वेदिक दृष्टि से मूल्यांकन, व्यापक स्तर पर (म्यूनिसपैल्टी आदि या सामूहिक तौर पर) पानी साफ करने के आयुर्वेदिक उपायों का उपयोग कुछ शहरों में हुआ है/ हो रहा है इसी प्रकार सिद्धान्तों व मूल्यों पर अडिग रहते हुए वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल आयुर्वेदिक शोध व प्रयोग की जरूरत व सम्भावना लगी।

- गरीबों या पिछड़े वर्गों से सम्बंधित सवाल वैद्यों को समझने में काफी दिक्कत हुई। प्रश्न समझने के बाद जो उत्तर दिए गए अनेक सहयोगियों के लिए सन्तोषजनक नहीं थे।

- परम्परागत विज्ञान के साथ–साथ सामाजिक दृष्टि को भी कुछ लोग टटोले बिना उसे पूर्णतया प्रोत्साहन देना चाहते हैं। इसके कुछ शोषक पहलुओं पर चर्चा सहज ही आ गई – स्वस्थ बच्चे के लिए दम्पत्ति क्या करे इस विषय पर पर्चे में केवल यही था कि पुत्र–धन की प्राप्ति के लिए क्या करे! महिलाओं के समाज में स्थान व भूमिका की अवधारणा का सवाल खड़ा हो गया। एक अन्य चर्चा में जाति प्रथा पर इसी प्रकार बात आ गई। इन पहलुओं पर भी खुली बहस व गम्भीर चर्चा की आवश्यकता है।

- एक प्रश्न यह भी उठाया गया कि स्वदेशी पद्धतियों की बात है तो यूनानी और सिद्ध क्यों गायब हैं? यह भी स्वदेशी हैं और इनको भी समझा जांचा, प्रयोग में लाया जाना चाहिए। इनका भी आधुनिक से संवाद होना चाहिए।

- इसी प्रकार, आयुर्वेद ही आयुर्वेद था– लोक परम्पराएं गायब। पर शायद इस प्रकार के आयोजन का यह लक्ष्य भी नहीं था। यह तो दो पद्धतियों के विशेषज्ञों के बीच

संवाद का प्रयास था, लोक परम्पराओं से रिश्ते बैठाने का नहीं। इसके लिए किसी अन्य प्रकार के कार्यक्रम की आवश्यकता होगी।

इस प्रयास द्वारा जो संवाद की पहल हुई है उससे उम्मीद है आगे संवाद को बढ़ावा मिलेगा। जो समस्यायें आईं वह शुरूआत में स्वभाविक ही हैं। इस प्रयास द्वारा उन्हें समझा जा सकता है व आगे सुलझाने के उपाय खोजे जा सकते हैं। ■

खण्ड – 2

कुपोषण एक जटिल समस्या

भूख, भुखमरी और कुपोषण : कैसे समझें और निपटें*

किसी भी समाज में भूख और भुखमरी या तो अभाव का द्योतक हैं, या अमानवीय व्यवस्था व जर–जर सामाजिक रिश्तों की परिस्थिति दर्शाते हैं। हमारे देश का यह कलंक आर्थिक व सामाजिक रिश्तों को सुधारे बिना नहीं मिट सकता।

भूख क्यों? देश व दुनिया में खाने की कमी नहीं है। हर समाज में मान्यता भी है कि किसका कितना हक बनता है (ऐन्टाईटलमेंट), जिसमें शारीरिक आवश्यकता अनुसार न्यूनतम भोजन सब को मिलना चाहिए, यह तो सभी समाज मानते हैं। परन्तु आर्थिक व सामाजिक हकों को परिभाषित करने के ऐसे तरीके अपनाए जाते हैं जो गैर बराबरी और अभाव को अदृश्य बना देते हैं, और फिर लोगों की खुशहाली के लिए कारगर कदम उठाने की जरूरत ही नहीं दिखती।

सरकारी कर्मचारियों, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं तथा समुदाय के लोगों की आम धारणा

राज्य सरकारें व जिलाधिकारी अपने–अपने राज्य/ज़िले में इस समस्या की गंभीरता से इंकार करती हैं। इसलिए पोषण को नीतियों में प्राथमिकता या उससे जुड़े कार्यक्रमों के पीछे राजनैतिक व नौकरशाही इच्छा शक्ति नहीं दिखती।

आई.सी.डी.एस. तथा स्वास्थ्य कर्मी –पर्यवेक्षकों (सुपरवाइजरों) के कथनानुसार आँगनवाड़ी कार्यकर्ता व ए.एन.एम कुपोषित लोगों की संख्या को कम बताती हैं ; जिसके कारण से इसकी प्राथमिकता आधिकारिक नज़र से ओझल हो रही है। फिर मानवीयता के आधार पर भी अफ़सर व कार्यकर्ता गम्भीर रूप से कुपोषित बच्चों को भी राहत पहुँचाने के लिए कोई विशेष कार्यवाही नहीं करते।

समुदाय के लोगों को बच्चों तथा वयस्कों में कम भोजन व कुपोषण की स्थिति सामान्य लगने लगती है, जिसके कारण भूख की समस्या की व्यापकता का अहसास नहीं हो पाता। विभिन्न वर्गों के बीच की खाई के कारण, पहले जैसी भूख और भुखमरी सीमित हो जाने के कारण, और पुराने बांट कर खाने के सामाजिक तरीकों के टूटने से, सामुदायिक

* सैडेड ने 'कोई भूखा न सोए' शीर्षक से एक संवाद श्रृंखला आयोजित की जिसका उद्धेश्य था समुदायों को ऐसे औजार देना कि भुखमरी व कुपोषण के प्रति संवेदना बढ़े। भुखमरी से पहले परिस्थितियों की पहचान करके खुद कदम उठाएँ और समुदाय, सरकारों को भी ज़िम्मेवार ठहरा सकें ताकि भुखमरी और कुपोषण की मौतें थमें। ऐसे औजार के पीछे की स्वास्थ्य व समाज विज्ञान की समझ साझा करने के लिए पुस्तिका लिखी गई जो यहाँ प्रकाशित है। इस पुस्तिका की आवश्यकता अन्य संस्थाओं के साथ संवाद से उजागर हुई, जिनमें से दो की रपटें व उनका सार निम्न वेबसाईट पर उपलब्ध है :

http://www.jnu. ac.in/SSS/CSMCH/ceiah.pdf
http:// www.jnu.ac.in/SSS/CSMCH/thmfnsi.pdf
http://www.mfcindia.org/mfcpdfs/MFC369-370.pdf

स्तर पर भी भूख से लड़ने के सामूहिक उपाय लुप्त हो रहे हैं।

स्थानीय सामुदायिक स्तर पर पोषण निगरानी (न्यूट्रिशनल सर्विलेन्स) करने पर उससे प्राप्त जानकारी द्वारा स्थानीय संवेदनशीलता जगाई जा सकती है। ब्लाक/जिला/राज्य/राष्ट्रीय स्तर पर एकत्रित जानकारी से इन सभी स्तरों पर इस समस्या की गंभीरता का अहसास दिलाया जा सकता है। इस प्रकार की जानकारी व संवेदनशीलता के बिना एक समग्र राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून भी लागू नहीं हो सकेगा।

कोई भूखा न सोए अभियान के तीन मूल उद्देश्यः

1. भूख व भुखमरी से सभी जीव मुक्त हों; किसी भी गाँव या बस्ती में 'कोई भूखा न सोए'।
2. समाज में भूख की समस्या के प्रति संवेदनशीलता बढ़े और 'बाँट कर खाने' की भावना प्रबल हो ताकि समाज और राज्य द्वारा विभिन्न कदम उठाए जाएं जो कारगर साबित हों।
3. समाज में आपसी भाईचारा मज़बूत हो।

भूखा न सोए अभियान के कदम

1. समुदायिक स्तर पर भूख की समस्या पर ***समझ बनाना***
2. भूख और पोषण की स्थिति पर समुदाय में ***निगरानी रखना***
3. पोषण की स्थिति खराब होने पर निगरानी से उसे ***जल्दी पहचानना ताकि भुखमरी से पहले ही कारगर कदम उठाए जा सकें***
4. सम्बन्धित ***सरकारी कार्यक्रमों के ठीक कार्यान्वयन हेतु दबाव बनाने के लिए*** संगठित काम करना– रोज़ी–रोटी अधिकार अभियान व अन्य ऐसे अभियानों में हिस्सेदारी (रोजी–रोटी अधिकार के बारे में पृष्ठ 15 पर देखें)
5. ***समुदाय द्वारा खुद इस मुद्दे पर कदम उठाना,*** **''ताकि हमारी बस्ती/गाँव में कोई भूखा न सोए''**
6. इस मुद्दे के प्रति समाज में संवेदना बढ़ाना व **आपसी भाईचारे/बहिनापे और बांटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन** देना।
7. समुदाय, गाँव, ब्लॉक, जिला, राज्य व **राष्ट्रीय स्तर पर भूख/पोषण की निगरानी की कारगर व्यवस्था** बनवाना। ●

I

सभी के लिए भूख व कुपोषण निगरानी की ज़रूरत

क्या समुदाय में रहने वाले लोगों को भूख व भुखमरी की स्थिति को जानने के लिए पोषण के निरीक्षण की आवश्यकता है?

हां और ना! समुदाय के सदस्य भूखे रहने वाले परिवारों तथा गंभीर रूप से कुपोषितों की पहचान तो करतें हैं, लेकिन कम व मध्यम दर्जे के कुपोषण की नहीं। इसलिए आमतौर पर यह कुछ ही लोगों की समस्या मानी जाती है। पोषण की निगरानी से कुपोषण के आंकड़ों द्वारा समुदाय में इसकी असलियत जग जाहिर हो जाएगी।

समुदाय अपने–आप राहत कार्य की शुरूआत के लिए क्या कर सकते हैं?

समुदाय संगठित हो कर सरकार से राहत कार्यों की मांग कर सकते हैं। इस बीच वे सबसे अधिक प्रभावित लोगों के लिए राहत जुटा कर भुखमरी से जानें बचा सकते हैं। दोनों कामों के लिए प्रामाणिक आंकडे प्रस्तुत करना मददगार होगा।

प्रशासन को अपना काम करने के लिए कौन सी जानकारी की आवश्यकता होती है?

भूख की समस्या की प्राथमिकता के प्रति प्रशासकों को संवेदनशील बनाने के लिए आँकड़ों की ज़रूरत है। साथ ही, प्रशासन की कार्यवाही के लिए सरकारी कार्यक्रमों के लाभार्थियों की पहचान व उनकी ज़रूरतों को प्रमाणित करने वाले सूचकांक आवश्यक होते हैं। सरकारी कार्यक्रमों के कार्यान्वयन पर निगरानी रखना बहुत महत्वपूर्ण है, जिसमें सामुदायिक निगरानी को जोड़कर ज़्यादा सटीक बनाया जा सकता है। ●

गरीबी, भूख और कुपोषण: विभिन्न रूप पहचानना आवश्यक

गरीब कौन?

भूख की समस्या झेलते कितने और कौन? – गरीब। गरीब कौन? गरीबों के अनेक रूप हैं–

- घोर अभाव ग्रस्त ऐसे समुदाय जो पुश्त–दर–पुश्त अभावग्रस्त रहे हैं। हर्श मन्दर बताते हैं कैसे एक मुसहर जाति की माँ अपने बच्चों को पाठ पढाती है कि भूखे पेट कैसे सोया जाता है।
- कुछ गरीब पेट भर लेते हैं परन्तु जाहिलियत का जीवन सह कर, जैसे कि खदान मज़दूर, कूड़ा बीनने वाले, रिक्शा चालक, इत्यादि।
- फिर ऐसा एक बड़ा हिस्सा है जो कमा–खा रहा है पर कभी–भी गरीब हो जाने की असुरक्षा में जीता है और हाथ–पैर मारता रहता है कि ऊपर की 'सुरक्षित' 10–20 प्रतिशत में पहुँच जाए।
- यह सभी वर्ग पेट काट कर भी अन्य खर्चे करते हैं क्योंकि समाज में अपनी इज्ज़त रखने की सभी की कोशिश रहती है।

भूख की परिभाषा

सामान्य स्वस्थकर भूख = जो हर स्वस्थ व्यक्ति को दिन में 2–3 बार लगनी चाहिए और जिसे वह उपयुक्त खाना खाकर शांन्त करते हैं।

मानसिक और सुखवादी भूख त्र शारीरिक जरूरतें पूरी होने के बाद भी और अधि ाक भोजन खाने की इच्छा होना।

आंशिक भूख = भोजन की शारीरिक आवश्यकता का पूरा न होने के कारण और अधिक भोजन खाने की जरूरत महसूस होना।

दीर्घकालिक भूख = आमतौर पर लम्बे अरसे तक आंशिक भूखा रहने की स्थिति।

गैर–पहचानी भूख लम्बे अरसे तक आवश्यक शारीरिक ज़रूरत (आनुवांशिक क्षमता अनुसार) की तुलना में कम भोजन का सेवन करना, और आदत हो जाने के कारण भूख का महसूस न होना ।

'छिपी हुई भूख' (हिडन हंगर) से अलग रूप = आजकल अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में 'भोजन में सूक्ष्म पोषकों जैसे विटामिन, लोहा या कैल्शियम की कमी' को दर्शाने के लिए

'हिडन हंगर' (छिपी हुई भूख) के मुहाबरे का प्रयोग किया गया है। परन्तु उसका आशय 'गैर–पहचानी भूख' की उपरोक्त परिभाषा से एकदम अलग है क्योंकि यह 'भोजन की कमी की अपेक्षा' केवल सूक्ष्म पोषकों की आपूर्ति के उपाय सुझाता है।

भोजन अभाव से कुपोषण के भिन्न प्रकार

भुखमरी – घोर भूख और अभाव की परिस्थिति में जीना जिसमें शरीर को केवल ज़िंदा रहने लायक ऊर्जा भी नहीं मिलती।

दीर्घ स्थायी कुपोषण (chronic malnutrition) – शारीरिक आनुवांशिक क्षमता को पूरा करने के लिए आवश्यक भोजन का आमतौर पर सेवन न कर पाने के कारण शरीर कमजोर होता है। इस परिस्थिति के कुछ लक्षणः

- बच्चों में उम्र के अनुसार कद का कम होना और वयस्कों में कद के अनुसार वजन का कम होना, यानि पतला होना
- कम खाने की आदत पड़ जाने के कारण शारीरिक आवश्यकता से कम भोजन को पर्याप्त मानना और इसी कारण से भूख का अहसास न होना।
- कुपोषित बच्चों का सबसे बड़ा भाग इसी वर्ग में होता है– हमारे देश में 40–50 प्रतिशत बच्चों में मध्यम व गम्भीर स्तर का दीर्घस्थायी कुपोषण पाया जाता है।
- पीढ़ियों से चले आ रहे सामाजिक और जैविक कारणों से इस प्रकार का कुपोषण होता है – गरीब माता–पिता के बच्चे; कुपोषित माताएं जिनके बच्चे गर्भ से ही कम वजन के होते हैं।

तात्कालिक कुपोषण (acute malnutrition) – एकाएक भोजन में कमी हो जाने से या बीमारी के कारण भोजन का शरीर में उपयोग न होने से होता है। पहले से स्वस्थ पोषण वाले लोगों में यह स्थिति ठीक होने पर शरीर फिर पहले जैसा हो जाता है, परन्तु कभी–कभी लम्बे अरसे तक चलने पर दीर्घस्थायी कुपोषण में परिवर्तन हो सकता है।

दीर्घस्थायी कुपोषण के साथ तात्कालिक कुपोषण – पहले से कम भोजन पाने वालों में एकाएक भोजन का और कम हो जाना। यही स्थिति भूख से भुखमरी की ओर ले जाती है। दीर्घ–स्थायी कुपोषण (chronic malnutrition) के साथ जब तात्कालिक कुपोषण (a cute malnutrition) की स्थिति आती है। तब बीमारी और भुखमरी बढ़ जाती है। शिशु मृत्यु का यह एक प्रमुख कारण है। वयस्कों में भी अकाल की मौतें उन्हीं में ज़्यादा होती हैं जिनमें पहले से ही दीर्घस्थायी कुपोषण की स्थिति बनी हुई थी।

दीर्घस्थायी के साथ तात्कालिक कुपोषण वर्तमान चुनौती का केन्द्र बिन्दु है।

दीर्घस्थायी कुपोषण की व्यापकता

बच्चे (0–6 वर्ष) – लगभग 50% मध्यम तथा गंभीर कुपोषण से ग्रसित

– लगभग 75% कम, मध्यम और गंभीर कुपोषण से ग्रसित

व्यस्क – लगभग 40% में ऊर्जा की गंभीर रूप से कमी

परिवार – लगभग 40% में कैलोरी और प्रोटीन की कमी

दीर्घस्थायी कुपोषण के साथ तात्कालिक कुपोषण

जो लोग पहले से ही निर्वाह के कगार पर हैं उनमें भोजन में अचानक कमी होने, या बीमारी के कारण खाये हुए भोजन का कम उपयोग होने के परिणामस्वरूपः

- किसी भी बीमारी की गंभीरता बढ़ सकती है।
- कुपोषण और बिमारी का दुष्चक्र चल पड़ता है
- और अंत में मृत्यु पर जाकर समाप्त होता है; इन परिस्थितियों में बच्चों और व्यस्कों की मृत्यु दर बढ़ जाती है।
- बीमारी अचानक गंभीर रूप ले लेती है।
- ऐसा समुदाय में किसी एक–आध व्यक्ति को हो सकता है। या समुदाय में व्यापक स्तर पर खाद्यान्नों की कमी होने से तात्कालिक कुपोषण एक महामारी का रूप ले सकता है।

दीर्घ स्थायी भूख का पिरामिड तथा तात्कालिक भूख की महामारी

कुपोषण के वार्षिक उतार–चढ़ाव – हर साल कुछ निश्चित समय पर तात्कालिक कुपोषण बढ़ता है, जैसे कि फसल से पहले के समय में (देश के बड़े हिस्से में जुलाई से अक्टूबर तक अन्य जगह दिसम्बर–जनवरी)।

महामारी की परिभाषा – जो आमतौर पर संक्रामक रोगों के लिए इस्तेमाल होती है वह परिस्थिति जिसमें कोई बीमारी अन्य वर्षों से ज्यादा व तीव्र रूप में किसी आबादी में फैले। यही अवधारणा कुपोषण के लिए भी उपयोगी है।

भूख की महामारी – जब साधारण वर्षों की अपेक्षा सूखा, बाढ़, खाद्यान्नों की कीमतों में बढ़ोतरी, अचानक बेरोजगारी आदि जैसी विपत्ति के दौरान खद्यान्नों की कमी बढ़ती जाती है, तब दीर्घस्थायी कुपोषण से ग्रस्त लोगों में तात्कालिक रूप से कुपोषण और बढ़ जाता है। बड़े पैमाने पर भूख और बीमारी का साया मंडराता है जो अन्य वर्षों से कहीं ज्यादा होता है।

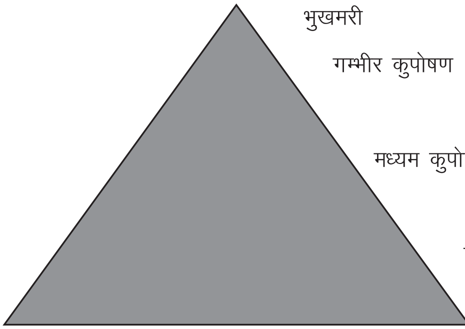

भूख और भुखमरी खत्म करने के उपायः अनेक स्तरों पर कदम आवश्यक

जहाँ 40 प्रतिशत परिवार और 50–75 प्रतिशत बच्चे तथा 40 प्रतिशत व्यस्क लंबे समय तक चलने वाले कुपोषण के शिकार हैं, वहाँ तो हर समय ही एक प्रकार से 'अकाल' की परिस्थिति व्याप्त है। वहीं सूखे, बाढ़, खाद्यान्नों की कीमतें बढ़ने तथा आजीविका के अचानक चले जाने या खाद्य की आपूर्ति कम होने पर तात्कालिक कुपोषण का खतरा बड़े पैमाने पर बना रहता है। इससे बचाव का तरीका है दीर्घकालिक भूख खत्म करना, परन्तु जबतक वह न हटे, तब तक 'जल्द पहचान–जल्द उपाय' से जानें बचाई जा सकती हैं। दोनों ही के लिए सामुयादिक स्तर पर 'पोषण निगरानी' महत्वपूर्ण है।

1. बृहद स्तर पर कार्य – रोजगार और खाद्य उपलब्धता जैसे व्यापक मुद्दों पर नीतियों को गरीब अनुकूल बनाना। सार्वजनिक वितरण प्रणाली, और कृषि को मजबूत बनाना आदि जैसे उपाय करने होंगे।

2. सूक्ष्म स्तर पर कार्य – व्यक्ति व परिवारों के स्तर पर सबसे कमजोर की पहचान करना और उनकी स्थिति पर निरंतर निगरानी रखना। जैसे सबसे अधिक गरीब, बेसहारा परिवारों, बच्चों, एकल महिलाओं तथा अपंग आदि पर विशेष ध्यान देना।

3. मध्य स्तर पर कार्य – पोषण निगरानी की व्यवस्था बने जो (1) दीर्घ–स्थायी भूख से जूझने वाले समुदायों की पहचान करे, और (2) तात्कालिक भूख के पूर्व उसके अंदेशे के चिन्ह पहचान सके, जिससे चिरस्थायी व तात्कालिक राहत मिल सके।

2+3 के लिए सरकारी कार्यक्रम, जैसे कि मध्यान्ह भोजन योजना, समेकित बाल विकास योजना, पेंशन इत्यादि को सही ढंग से कार्यान्वित करवाना। साथ ही सामाजिक तौर पर ऐसे समुदायों, परिवारों व व्यक्तियों के लिए इन्तज़ाम होना चाहिए जो किसी भी पाने वाले को हीनभावना न दे।

प्रासांगिक परिस्थिति अनुकूल कार्य–दृष्टि :

बृहद स्तर पर – सभी के लिए, पूरे समाज की खाद्य सुरक्षा के लिए

सूक्ष्म स्तर पर – जहां केवल कुछ परिवार भूखे हैं

बृहद + सूक्ष्म + मध्य स्तर – जहां 20–30 प्रतिशत से अधिक परिवार प्रभावित हैं।

खाद्यान्न अभाव के प्रतिमान अनुसार भूख तथा भुखमरी से निपटने के भिन्न तरीके

सामान्य परिस्थितियों में– सभी को एक व्यवस्था के तहत पर्याप्त पोषण सुनिश्चित होना चाहिए। परन्तु असामान्य अभाव, अकाल आदि के समय तथा जब सरकारी व्यवस्था पूर्णतः कारगर न हो तबः

प्रतिमान 1 – पूर्ण खाद्य प्रावधान के लिए राजकीय कार्यवाही की अनिवार्यता; जहाँ सारा गांव/समुदाय अभाव, भूख तथा भुखमरी की स्थिति में रहता है, – जैसे कि उडीसा व झारखण्ड में कई दूरस्थ आदिवासी गांव व बिहार में महा–दलित समुदाय।

प्रतिमान 2 – परिवारों की विशिष्ट जरूरतों के अनुपात के आधार पर उपयुक्त उपाय– जैसे कि किसी इलाके में लगभग 10 प्रतिशत परिवारों को साल में खाद्यान्न की कमी होती है; कहीं 10–40 प्रतिशत; 40–70 प्रतिशत; या 70+ प्रतिशत। ज़्यादातर विभिन्नता वाले समुदाय या गाँव होते हैं जहाँ कुछ परिवार आर्थिक रूप से सशक्त होते हैं; कुछ के पास आमतौर से पर्याप्त भोजन होता है, लेकिन सूखे आदि के समय उन्हें जीवनयापन के तरीके बदलने पड़ते हैं; एक हिस्सा गरीबी रेखा के नीचे (बी.पी.एल) का; और एक अन्य हिस्सा घोर अभाव और निराश्रितता का जीवन जीता है। आखिरी तीनों वर्गों के बच्चों एवं वयस्कों के एक बड़े अनुपात में दीर्घस्थायी कुपोषण पाया जाता है।

जहाँ कुछ प्रभावित परिवार ही हैं, वहाँ चिरस्थायी राज्य कार्यक्रमों के साथ–साथ, बेहतर आर्थिक स्थिति वालों को संगठित कर गरीबों को समुदाय द्वारा राहत पहुंचाई जा सकती है।

जहाँ अधिक प्रभावित परिवार हैं, वहाँ अनाज बैंक जैसी सामुदायिक क्रियाओं द्वारा सुरक्षा पद्धतियां विकसित की जा सकती हैं।

पोषण के विशेष संकट के समय आर्थिक वर्गों के भिन्न अनुपात के अनुसार रणनीति/नीति बनाने की आवश्यकता है। देश का कोई भी जिला या राज्य ऐसा नहीं है जहां, भूख ग्रसित परिवार न हों। विभिन्न राज्यों में इनका अनुपात 10 से 80 प्रतिशत तक है। कम वजन के बच्चे (0–6 वर्ष) का अनुपात केरल में 23 प्रतिशत से लेकर मध्य प्रदेश में 60 प्रतिशत तक है। **सरकारी योजनाओं को कारगर ढंग से लागू करने के लिए पोषण का सामुदायिक निरीक्षण सभी इलाकों में आवश्यक होगा। जहाँ 10 प्रतिशत भूखग्रस्त परिवार हैं वहाँ उन तक पर्याप्त खाद्यान्न की पहुंच सुनिश्चित करना कार्यक्रम के ढाँचे व सूक्ष्म स्तरीय क्रियान्वयन**

की चुनौती है। जहाँ 80 प्रतिशत परिवार ऐसे हैं, वहाँ बृहद स्तर के उपाय अनिवार्य हैं। दोनों ही परिस्थितियों में सबसे कमज़ोर तबकों/परिवारों तक राहत पहुचाने की विशेष चुनौती है।

पोषण निगरानी की उपयोगिता व तरीके

क्रियाओं के प्रकार	**आवश्यक जानकारी**	**सूचनाएं प्राप्त करने के तरीके**
बृहद स्तर – सभी के लिए खाद्य सुरक्षा समाधान के लिए सभी क्षेत्रों की नीतियाँ	निरन्तर पोषण निगरानी द्वारा खाद्य सुरक्षा पर विभिन्न नीतियों व कार्यक्रमों के असर को आँकना	**क्षेत्रवार पोषण की स्थिति का विस्तृत मैपिंग करना** – एनएफएचएस (राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण) एवं अन्य विशेष सर्वेक्षणों के आंकड़ों पर आधारित इलाकों का वर्गीकरण किया जाए। आईसीडीएस, गैर सरकारी संस्थाओं, ग्राम स्वास्थ्य एवं स्वच्छता समिति/आंदोलन संगठनों/समुदायों/ग्रामीण स्वास्थ्य एवं स्वच्छता समिति की मदद से बच्चों के वजन की महीनेवार जांच
बृहद + सूक्ष्म स्तर पर – जहां केवल कुछ परिवार भूख से ग्रस्त हैं।	कमजोर व्यक्तियों/ परिवारों की पहचान करना ताकि नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में उनकी अनुकूलता पर भी ध्यान दिया जा सके।	समुदाय, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं स्वच्छता समिति, 'आशा' कार्यकर्ता, आँगनवाड़ी कार्यकर्ता की मदद से गांवों/बस्तियों में **सबसे अधिक प्रभावित व्यक्तियों और परिवारों की पहचान करके सूची बनाना।**
बृहद + सूक्ष्म + मध्य स्तर – जहां अधिकतर परिवार प्रभावित हैं।	सामुदायिक स्तर पर पोषण निगरानी के लिए ग्राम/ब्लॉक/जिला की जानकारी	इसके लिए **सामूहिक स्तर पर अनेक तरीकों की आवश्यकता** है क्योंकि यह अनुमान लगाया जा रहा है कि आने वाले दिनों में किसी क्षेत्र में क्या होने वाला है। विभिन्न प्रकार की कुपोषण के आंकड़ों के साथ–साथ आर्थिक, व्यावसायिक, गरीबी, पलायन, खाद्यान्न उपलब्धता इत्यादि सम्बन्धी जानकारी का एकसाथ विश्लेषण करने से आने वाले खतरे का अंदाजा लगाया जा सकता है।
भूख की महामारी पर नियंत्रण – जल्दी पता लगाना, राहत कार्य जल्द शुरू करना (जैसे कि काम–के– लिए–भोजन) तथा सामूहिक प्रावधान (जैसे कि लंगर व सामूहिक रसोई)	विकसित होती तात्कालिक भूख को जल्दी से जल्दी पता लगाने के लिए पोषण निगरानी का प्रयोग करना। जिसकी मदद से जल्दी राहत पहुंचाई जाए और दीर्घकालिक के साथ तात्कालिक, कुपोषण, भूख व भुखमरी की मदों को कम किया जा सके।	

पोषण निगरानी की विधियां

सामुदायिक स्तर पर भूख की महामारी (तात्कालिक खाद्यान्न आभाव) को पहचानने के अनेक तरीके

कई सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक सूचकों का इस्तेमाल करके भूख और कुपोषण की निगरानी करनी चाहिए ताकि इन परिस्थितियों की सही व जल्दी पहचान हो सके। अलग–अलग परिस्थितियों में भिन्न सूचक ज़्यादा कामयाब हो सकते हैं। यह आंकड़े गाँव/बस्ती/समुदाय के स्तर पर समूह खुद भी आसानी से इकट्ठा कर सकते हैं।

सरकार द्वारा भूख और भुखमरी पहचानकर उपाय अपनाये जाने वाले वर्तमान तरीके:

1. **भुखमरी से होने वाली मौत** होने पर ये माना जाता है कि मरने वाले के परिवार को राहत की आवश्यकता है।
2. **सूखे से प्रभावित क्षेत्र की पहचान** – वर्षा की मात्रा तथा खेतों में होने वाले उत्पादन से अनुमान लगाया जाता है कि खाद्यान्न का उत्पादन कम होने वाला है और फिर राहत कार्य (जैसे काम–के–बदले–अनाज) शुरू किए जाते हैं।
3. **भूख का सर्वेक्षण** जिसमें परिवार स्वयं रिर्पोट करते हैं कि साल में कितने दिन दो समय भरपेट भोजन नहीं मिला।

सामुदायिक स्तर पर तात्कालिक भूख की पहचान और सत्यापन के लिए अतिरिक्त तरीकों का प्रस्ताव

1

जहाँ एक व्यक्ति भुखमरी का शिकार हो,
माना जा सकता है कि
वहाँ परिवार और समुदाय में भूख होगी ही।

2

'दो समय भरपेट भोजन' के सर्वेक्षण में लोगों से पूछा जाए कि उन्हें साल/महीने में कितने दिन दो समय भरपेट भोजन नहीं मिलता तो आंकड़े वह स्थिति दिखाऐंगे जितना लोग खुद पहचानते हैं।

यदि दोबारा सर्वे करेंगे तो स्थिति में बदलाव पता चलेगा।

3

समुदाय में चर्चा से भोजन में आए बदलाव का पता लगाना। परिवारों द्वारा लिए जा रहे भोजन में कटौती की जानकारी सबसे जल्दी कुपोषण के बढ़ने का खतरा बता सकती है।

4

बस्ती/गाँव में कमज़ोर वर्गों, परिवारों व व्यक्तियों की सूचि बनाना

(जैसे कि बहुत गरीब, एकल बुज़ुर्ग, एकल महिलाएं, दिव्यांग)

ताकि समुदाय में गांव स्तर पर काम करने वाले संगठनों, पंचायतों इत्यादि द्वारा उन्हें विशेष ध्यान दिया जाए तथा उनकी भोजन संबंधीं परिस्थितियों पर विशेष निगरानी रखी जाए व किसी भी कार्यक्रम या सहायता के लिए विशेष ध्यान दिया जाए।

5

राशन और बाज़ार से खाद्य पदार्थों की खरीदः
यदि पिछले साल में बदलाव हुआ है तो क्यों?
यदि इलाके में पैदावार कम हुई है तो यह बताएगा कि परिवारों में खाना कम पहुँच रहा है।

6

आर्थिक संकट के लक्षण पर निगरानी–
स्थान/ समुदाय विशेष, जैसे किः

- घर का सामान बिकना/गिरवी रखना, बढ़ी मात्रा में मवेशियों तथा बकरियों, जेवरात, भूमि, बर्तन,.. इत्यादि की बिक्री
- रोज़गार के लिए पलायन बढ़ना।
- हर समुदाय में अलग–अलग लक्षण दिख सकते हैं और वह भूख के बढ़ते खतरे के प्रति सावधान करेंगे।

7

समुदाय के सदस्यों को नापकर पोषण की स्थिति जानना,
जैसे कि आँगनवाड़ी में बच्चों का वज़न :

- वज़न आमतौर पर केवल उस बच्चे के पोषण के लिए देखते हैं।
- अगर कुपोशित बच्चों का प्रतिशत देखेंगे तो वही समुदाय की परिस्थिति बताऐंगे।

- **अगर प्रतिशत की तुलना पिछले माह या पिछले साल के उसी माह से करेंगे तो बदलाव पता चलेगा।**

आपके समुदाय में पोषण निगरानी करने के लिए कदमः

क) बच्चों के वज़न व खाने की वस्तुओं के दामों के महीनेवार आँकड़े इकट्ठे करना।

ख) परिवारों द्वारा लिये जा रहे भोजन व आमदनी में आये बदलाव पर चर्चा करके हर तीन महीने पर जायजा लेना।

ग) क और ख द्वारा एकत्रित आँकड़ों को रजिस्टर या कम्प्यूटर में बनी तालिका में रिकॉर्ड करना।

घ) आँकड़ों की पिछले महीने / साल से तुलना करना।

ड़) कुपोषण की बढ़ती परिस्थिति पता चलने पर समुदाय को बताना।

च) परिस्थिति में सुधार के लिए उपाय करना।

क्या आपके समाज व कार्यक्षेत्र में इस तरह सामुदायिक स्तर पर पोषण निगरानी करना अर्थपूर्ण है ? क्या इससे खाद्य सुरक्षा के संबध में लोगों को संगठित करने में मदद मिलेगी?

सामुदायिक स्तर पर इसे प्रयोग करके क्या स्थानीय संवेदनशीलता बढ़ाई जा सकती है? उसकी मदद से क्या ब्लॉक, ज़िला, राज्य व राष्ट्रीय स्तरों पर भूख की समस्या के प्रति संवेदना जगाने तथा उसके विरूद्ध कारगर कार्यों और नीतियों की वकालत की जा सकती है?

समाज में भूख से सभी को बचाकर रखने और पर्याप्त भोजन मुहैया कराने के क्या–क्या तरीके अपनाए जाते रहे हैं? विभिन्न प्रकार के भोजन उपजाने से लेकर, पारस्परिक जिम्मेवारी की भावना व सामाजिक संरचना के ताने–बाने को मज़बूत करने तक के अनेक उपाय भारतीय समाज में अपनाएं जाते रहे हैं।

आज सभी को पर्याप्त व स्वास्थ्यकर भोजन मिले, इसके लिए सामाजिक एकजुटता और एक–लक्षीय मानस कैसे बनाया जाए? आईये मिलकर सोचें... ■

गरीबी रेखा का विज्ञान : तीन उपयोग तो तीन अलग रेखाएं चाहिए*

गरीबी रेखा पर सालों से चल रहे विवादों के दो कारण हैं – एक तो यह कि सरकारी तंत्र गरीबों की संख्या कम से कम करके आंकना चाहता है और गरीबों के हकों व बेहतर जीवन के लिए कार्यरत विशेषज्ञ व कार्यकर्त्ता, व्यक्ति व संस्थाएं, सरकार के आँकड़ों व उनको आँकने के तरीकों के विरोध में आँकड़ों समेत तर्क पेश करते रहे हैं।

विवाद का दूसरा कारण है गरीबी रेखा तय करने में निहित जटिलताएं। जटिलता इसलिए कि किन बुनियादी ज़रूरतों को लेकर पारिवारिक खर्चा पर्याप्त या अपर्याप्त माना जाए। 1972 में जब पहली बार गरीबों की संख्या आँकी गईं तब केवल आहार में उपलब्ध कैलोरी (यानि ऊर्जा) ही आधार था। राष्ट्रीय सैंपल सर्वे से देखा गया कि किस आय (या पारिवारिक खर्चे) वालों को 2700 कैलोरी मिल रही थीं। वह श्रेणी और उससे ज्यादा खर्च करने वाले गरीबी रेखा के ऊपर माने गए और उससे नीचे वाले गरीबी रेखा के नीचे माने गए।

इस प्रकार तय गरीबी रेखा व उस पर आधारित गरीबों का भारत की आबादी में प्रतिशत आँका जाने लगा। 1972 में यह 55 प्रतिशत था और 1990 तक 36 प्रतिशत हो गया। यह बदलता प्रतिशत आर्थिक विकास की एक कसौटी बन गया; कि कितने प्रतिशत परिवार इस रेखा से ऊपर उठ पाए हैं।

फिर सरकारी सब्सिडी द्वारा गरीबों के लिए कार्यक्रमों के लाभ के लिए परिवारों को चिन्हित करने का आधार भी यही गरीबी रेखा बन गई और बी.पी.एल. की श्रेणी के लिए रंगीन कार्ड भी बना दिए गए। 1990 के दशक से खाद्यान्न का राशन, मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएं, स्कूली शिक्षा, स्वयं–सहयोगी समूह इत्यादि सभी पाने के लिए यह आवश्यक होता गया।

इस बीच, 1972 से 1990 के दो दशकों में स्थितियाँ बहुत बदलीं और जितनी आबादी भुखमरी के कगार पर थी, जिसे दो वक्त भोजन नसीब न था, वह काफ़ी कम हो गई। गरीबी रेखा के लिए केवल जीवित रहने भर के लिए पर्याप्त कैलोरी ही नहीं बल्कि अन्य पोषक तत्व, शिक्षा, कपड़ा, मकान इत्यादि भी जोड़ने की बात उठाई जाने लगी। 1972 में गरीब परिवार अपनी आय का 80: खाने पर खर्च करते थे। 1990 तक उनका खाने पर खर्च घट कर लगभग 60 प्रतिशत हो गया था। 40 प्रतिशत खर्चा अन्य जरूरतों पर होने लगा था। परिवारों की आय व खर्चा बढ़ गया था और इसलिए आर्थिक विकास दिखता था, परन्तु विडम्बना यह कि पर्याप्त कैलोरी पाने वाले परिवारों का प्रतिशत भी बढ़ गया।

---

* 16 जून, 2012 को राष्ट्रीय सहारा, के 'हस्तक्षेप' परिशिष्ट में भारत में गरीबी–आधार और आकलन विशेषांक में छपा लेख

जब आय बढ़ी तब खाने पर खर्च कम बढ़ा, शिक्षा, चिकित्सा, आवा–जाही जैसे आधुनिक विकास की आवश्यकताओं पर ज्यादा लगाया जाने लगा। आर्थिक रूप से विकसित होता समाज गरीबों तक भी उसके लाभ पहुँचा रहा था और वह अपने खर्चे बदल रहे थे, इसलिए गरीबी रेखा की परिभाषा बदलना जरूरी माना गया।

इन सब बदलाव के चलते जटिलता बढ़ गई। जब गरीबों की संख्या कितनी कम हुई जानना हो, 1972 से या किसी अन्य वर्ष से तुलना करनी हो, तब तो वही पहले वाली परिभाषा (यानि पर्याप्त कैलोरी पाने के लिए 80ः प्रतिशत खर्चा करने के लिए आय) लेकर चलना होगा। परन्तु जब आज की तारीख में गरीबी परिभाषित करनी हो तो पूर्ण पोषण व बुनियादी जरूरतों को मानक क्यों न माना जाए ? ऐसे कुपोषित व इलाज, शिक्षा इत्यादि से वंचित को खाद्य सुरक्षा और बुनियादी सेवाओं का लाभ पहुँचाना सरकार और समाज की ज़िम्मेवारी बन जाता है। गरीबी रेखा के इस प्रकार के भिन्न उपयोग के चलते, विभिन्न अर्थशास्त्रियों की भिन्न राय रही है। योजना आयोग की अनेक समितियों ने इन दोनों के बीच सामन्जस्य बिठाने की कोशिश की है, परन्तु इससे गुत्थी और बढ़ती गई। गुत्थी सुलझी नहीं क्योंकि इन समितियों ने मूल आधारों पर समग्र सोच बनाने की बजाए लगता है कि समझौते के रास्ते ही ढूंढते रहे, जो गरीबी के ऐसे आंकड़े भी दें जो सरकार व योजनाकारों के लिए ज़्यादा कष्टप्रद न हों।

प्रस्तावित रास्ता

अगर हम मूल सिद्धांतों पर जाएं तो सोचना होगा कि – हमें गरीबों को परिभाषित क्यों करना है ? उनकी संख्या क्यों जाननी है ? और ऐसे परिवारों को एक–एक कर के पहचानना क्यों जरूरी है ? हमारी प्रस्तावना है कि, क्योंकि गरीबी रेखा के दो भिन्न उपयोग हैं तो इन सभी सवालों के दो भिन्न जवाब हैं। जब आर्थिक विकास को आँकने के लिए दशकों का तुलनात्मक विश्लेषण करना है तब पुरानी परिभाषा ही रहे। परन्तु उसे अब हम गरीबी का मानक नहीं, अभाव ग्रस्त ज़िन्दगी (डेस्टिट्यूशन) का मानक मानें और उसे 'अतिगरीबी या अभाव–ग्रस्त रेखा' (डेस्टिट्यूशन लाईन) ही कहें।

जब हमें आज के समाज में न्यूनतम बुनियादी ज़रूरतें तय करनी हों तब हम दाल–रोटी (यानि पूर्ण पोषण), कपड़ा, मकान, शिक्षा और चिकित्सा व आवा–जाही पर खर्च को जोड़कर गरीबी का मानक कट ऑफ तय करें। यह 'न्यूनतम गरिमा या विकास रेखा' कहला सकती है। क्योंकि न्यूनतम मज़दूरी इसी आधार पर तय की जाती है, इसलिए उसी को मानक मान सकते हैं।

परन्तु इस से भी 1972 की शुरूआती कोशिश, कि सबको पर्याप्त कैलोरी मिलनी चाहिए, पूरी नहीं होगी। जो अब अन्य बुनियादी ज़रूरतें हो गई हैं, वह अब इतनी मंहगी हैं कि बढ़ी आय के बावजूद 70 प्रतिशत से ज्यादा परिवारों में पर्याप्त कैलोरी नहीं पहुँच रही। इसलिए खाद्य सुरक्षा के लिए एक तीसरी रेखा चाहिए, जिसमें असल में पूर्ण कैलोरी मिली कि नहीं, यह आधार हो। इसे 'पोषण रेखा' कह सकते हैं।

इस प्रकार प्रस्ताव है कि एक 'गरीबी रेखा' के बजाए तीन रेखाएं हों – 'अति–गरीब/आभाव–ग्रस्त रेखा', 'पोषण रेखा' और 'न्यूनतम गरिमा/विकास रेखा। पहली समय के साथ बदलती आर्थिक परिस्थिति की तुलना करने के लिए उपयोगी होगी, दूसरी खाद्य सुरक्षा के कार्यों के लिए और तीसरी सभी अन्य कार्यक्रमों के लाभ के लिए परिवारों को चिन्हित करने के लिए। इस प्रकार अभावों की विविधता और जटिलता को एक नहीं तीन रेखाएं बेहतर ढंग से परिलक्षित करेंगी और विवादों को लाँघकर गरीबों की बेहतरी के लिए ठोस रास्ते चिंहित कर सकती हैं। ■

खण्ड – 3

शहरी लोक–स्वास्थ्य के कुछ आयाम : दिल्ली के अनुभव से

सुंदर नगरी में 1988 की हैजा महामारी की हकीकत व उससे मिली कुछ सीख*

(इस पुनर्वास बस्ती में सबला संघ से जुड़ी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के साथ लेखक द्वारा किए गए सर्वेक्षण के आधार पर यह लेख लिखा गया)

1988 में हैज़े का असली रूप

दिल्ली की एक पुनर्वास बस्ती, सुंदर नगरी के आई ब्लॉक में पिछले साल सात सदस्यों का एक परिवार रहता था, मां. बाप और पांच बच्चे। 6–7 साल पहले अलीगढ़ जिले के एक गांव से ये आए थे। 4 साल के राज का यही जन्म हुआ। उसके पिताजी शाहदरा स्थित एक रेडीमेड कपड़ों की फैक्टरी में पीस रेट पर सिलाई का काम करते थे। उन्हें कभी काम मिलता, कभी हफ्तों काम के लिए असफल कोशिशें करते रहते। जब काम मिलता तो दिन में 15–20 रुपये मिल जाते। राजू के बड़े भाई–बहन स्कूल जाते हैं। कभी–कभी मां घर में पत्तों पर बिंदियां चिपकाने का काम कर लेती हैं, ठेकेदार से माल लाकर उसी को दे आती है। दिन भर लगे रहने पर 2–3 रुपये बनते है।

परंतु अब इस परिवार में केवल छः सदस्य रह गए हैं। 14 जुलाई 1988 की रात को राजू के उल्टी व दस्त होने लगे। लगभग रात 12 बजे से दो बजे तक 4–5 पानी जैसी उल्टी और दस्त हो चुके थे। तब पड़ोस के एक प्राइवेट 'डॉक्टर' को जगाकर उससे दवा ली। परंतु सुबह पांच बजे तक वह 4–5 उल्टी–दस्त और कर चुका था। तब तक रोशनी हो गयी थी तो एक पड़ोस के रिक्शा वाले को मनाकर उसे लगभग 3 किलोमीटर दूर शहादरा के 'जनरल' अस्पताल ले गए। वहां उसे चांर बोतलें चढ़ाई गईं और फिर घर भेज दिया। घर आकर फिर हालत बिगड़ने लगी तो 11 बजे उसे वापस अस्पताल ले गए, जहां लगभग 30 किलो मीटर दूर किंग्ज़वे कैम्प के संक्रामक रोग अस्पताल जाने की सलाह दी गई। बस से वहां जाने में कम से कम डेढ़–दो घंटे लगते और स्कूटर के खर्चे का तो सवाल ही नहीं। दूसरी ओर इतनी दूर चले गए तो बाकी बच्चों को कौन देखेगा? इसलिए वह राजू को पास के ही गुरु तेग बहादूर अस्पताल ले गए। यह सब तय करने और आने–जाने में कीमती समय निकलता गया। गुरू तेग बहादुर अस्पताल में फिर बोतलें चढ़ानी शुरू की गईं परंतु तब तक शायद राजू की हालत काबू के बाहर हो चुकी थी और एक घंटे में उसकी मृत्यु हो गई।

सुंदर नगरी में ही लगभग उन्ही दिनों 'के ब्लॉक' में पांच माह के मईनुद्दीन को भी उल्टी–दस्त का रोग लगा। उसका 8 लोगों का संयुक्त परिवार है। पिता साईकिल

---

*नवभारत टाइम्स में 26, 27, 28 जून 1989 को तीन भाग में प्रकाशित

रिपेयर करते हैं और चाचा जीन्स फैक्टरी में सिलाई का काम। दो दिन उसका इलाज वहीं के प्राईवेट डॉक्टर से करवाते रहे। दूसरी शाम उसे तेग बहादुर अस्पताल ले गए जहां आधी बोतल चढ़ाकर आधी रात को उसे छुट्टी दे दी गई। घर आकर हालत फिर बिगड़ी तो उसे सीलमपुर के एक प्राईवेट डॉक्टर के पास ले गए। 2–3 दिन इलाज चला और खूब खर्चा हुआ। परंतु पांचवे दिन 5 माह का मईनुद्दीन अल्लाह को प्यारा हो गया।

ऐसे अनेको किस्से पिछले साल 10 जुलाई के बाद से काफी चर्चित रहे। दूरदर्शन पर मृतकों के रिश्तेदारों, मां, बाप, से इंटरव्यू दिखाए गए। अखबारों में विवरण छपे। प्रधानमंत्री तक सुंदर नगरी का दौरा करने, बिमारी की स्थिति देखने आए। प्रशासन रोज दिल्ली शहर के अस्पतालों में आते हैजें व आंत्रशोध के मरीजों के आंकड़ों पर विज्ञप्ति पेश करता। आप हम दिल्ली में बीमारी के इस प्रकोप से घबराए हों। अपने व अपने बच्चों के हैजे से बचाव के लिए हमने उपाय करते रहे। दिल्ली की गंदी बस्तियों की खराब स्थिति पर 10 जुलाई के बाद से कुछ चितिंत, कुछ गुस्सा भी हुए।

परंतु सुंदर नगरी के अनेक निवासियों का कहना था कि "यह सब हल्ला क्यों? यह तो हर साल ही इस मौसम में होता है।" वहां के कई प्राइवेट डॉक्टरों का भी यही कहना था।

असलीयत जानने के लिए कुछ स्थानीय गैर–सरकारी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने एक 'बाहरी डाक्टर के साथ मिलकर सर्वेक्षण किया। गली–गली जाकर सुंदर नगरी के 'वैध प्लाट वालों व अवैध झुग्गी वालें से जानकारी इकट्ठी की गई। कुल मिलाकर 35,000 आबादी में 20 मौतों की जानकारी मिली जो जुलाई–अगस्त में उल्टी–दस्त से हुई थीं। क्या यह संख्या हर साल से ज्यादा थी? पिछले सालों के सुंदर नगरी के आंकड़े तो नहीं है पर राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण संस्थान के एक सर्वेक्षण में पास की बस्ती सीलमपुर के आंकड़े मिलते हैं। सीलमपुर का पर्यावरण, वहां के निवासियों के सामाजिक आर्थिक हालात, सुंदर नगरी से मिलते जुलते हैं। इसलिए दोनों को बीमारी के संबंध में एक सा मान सकते हैं। सुंदर नगरी में जुलाई–अगस्त 1988 में उल्टी–दस्त से मृत्यु दर निकलती है 5ण्8 प्रति 10,000 व्यक्ति। सीलमपुर में साल भर (84–85) में मृत्यु दर है 204 प्रति 10,000। अगर इसको 6 से भाग करके 2 माह के लिए लें तो 3.4 हो जाती है। पर क्योंकि जुलाई से सितम्बर के महीनों में अन्य महीनों से दुगुनी से पांच गुनी तक उल्टी–दस्त से मौतें होती हैं इसलिए आसानी से मान सकते हैं कि जुलाई व अगस्त 1984 में सीलमपुर में उल्टी–दस्त से मृत्यु की दर 1988 में सुंदर नगरी की दर के आस–पास ही रही होगी या ज्यादा रही होगी।

उल्टी–दस्त से बीमार लोगों की कुछ संख्या का एक मोटा अंदाजा भी इन दोनों सर्वेक्षणों से मिलता है। सुंदर नगरी में जुलाई–अगस्त 1988 में बीमारी की दर थी 39.5 प्रति 1000 व्यक्ति प्रति माह। 1984 के इसी समय में सीलमपुर में दर थी 45 प्रति 1000 व्यक्ति प्रति माह। कोई खास फर्क नहीं। यानी 88 में सुंदर नगरी में उल्टी–दस्त का

प्रकोप लगभग उतना ही था जितना हर साल होता है। फर्क था कि अखबारों, प्रशासन व सत्ताधीश राजनीतिज्ञों ने इस साल उस ओर ध्यान दिया था।

सुंदर नगरी के सर्वेक्षण से पता चलता है कि कम से कम 60 प्रतिशत परिवारों में एक या एक से ज्यादा सदस्य इन दो महीनों में उल्टी–दस्त का शिकार हुआ। इन बीमारों में से केवल 30 प्रतिशत सरकारी अस्पताल गए। सुंदर नगरी के 20 उल्टी–दस्त से मरने वालों में ज्यादा से ज्यादा 5 प्रशासन द्वारा दिए गए आंकड़ों में आए होंगे क्योंकि उन्हीं में हैजा था और वह अस्पताल में मरे। बाकी या तो अस्पताल के बाहर मरे (ज्यादा अस्पताल से लौट कर) या फिर आंत्रशोध या पेचिश से मरे और इसलिए वह आंकड़ों में नहीं लिए गए।

इस जानकारी के आधार पर पूरी दिल्ली के लिए दिए गए सरकारी आंकड़ों को देखें तो कह सकते हैं कि हर साल जुलाई–अगस्त के महीनों में लगभग एक लाख व्यक्ति दिल्ली में उल्टी–दस्त से प्रभावित होते हैं। लगभग 1200 उसी कारण मरते हैं। सुंदर नगरी व इससे भी बदतर स्थितियों वाली बस्तियों के लोगों की जीने–मरने से जुड़ी इस समस्या पर भी हम सब इतने साल बेखबर थे या यूं कहें कि उसे देखना नहीं चाह रहे थे।

1988 में हल्ला होने का दूसरा कारण भी था। उल्टी–दस्त की बीमारी तो लगभग हर साल जितनी थी पर उसमें हैजें का अनुपात ज्यादा था। अस्पतालों के आंकड़े दिखाते है कि पिछले कुछ सालों की तुलना में उल्टी–दस्त के मरीज जहां डेढ़ से दो गुणा ज्यादा थे (जो कि संभवतः हल्ले के कारण ही अस्पताल ज्यादा आए) हैजा–ग्रस्त मरीजों की संख्या सात गुणा ज्यादा थी। यानी निश्चित ही हैजे की महामारी फैली थी। हैजा ज्यादा था और फिर भी मौते सामान्य ही थीं यह कैसे? इसका मुख्य कारण था कि पुराने हैजे के कीटाणु की जगह 'एलटौर' प्रकार के हैजे की कीटाणु का हल्का प्रकोप रहा। 'एलटौर' कीटाणु फैलता ज्यादा है परंतु बीमारी का गंभीर रूप कम बीमारों में प्रकट होता है; ज्यादातर सामान्य उल्टी–दस्त होकर ठीक हो जाता है। कुछ फर्क हल्ला हो जाने के कारण भी पड़ सकता है क्योंकि, जैसा कि सुंदर नगरी में पाया, हल्ले के बाद पहले की बनिस्पत ज्यादा बीमार सीधे अस्पताल ले जाए गए न कि पहले प्राइवेट डॉक्टर के और फिर बाद में अस्पताल।

हैजे की ज्यादा संख्या होने के कारण कुछ सरकारी डॉक्टरों व वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी। प्रशासन ने उसे अनसुना कर दिया परंतु हैजे की बात अखबारों ने पकड़ ली। हम–आप भी हैजे के पुराने भीषण रूप की याद के कारण उसके नाम से घबराते है। सत्ताधीश राजनीतिज्ञों ने इस मौके का फायदा उठाकर 'कुछ कर सकते हैं' दिखाने का तय किया। इन सबसे हल्ला बढ़ता गया। दिल्ली के बस्तीवासी तो उल्टी–दस्त की इतनी ही समस्या हर साल झेलते हैं पर मल की जांच द्वारा उसे हैजे का नाम दे देने से मध्यम वर्गीय दिल्ली ने उस ओर ध्यान दिया।

11

नियोजित पुनर्वास कालोनियों में हैज़ा क्यों? – नियोजन बनाम लोग

चलो, अच्छा हुआ। कभी–न–कभी, चाहे किसी कारण से, इस सालाना, जीवन घातक समस्या की तरफ ध्यान तो गया। जो हल्ला हर साल होना चाहिए था अब तो हुआ। इससे दिल्ली के गरीब तबकों के रहन–सहन के हालात पर भी लोगों की नजर पड़ी। उनकी बस्तियों की गंदगी, पानी और शोचालय जैसी बुनियादी सुविधाओं की उपयुक्त व्यवस्था के अभाव पर काफी कुछ लिखा–कहा गया।

परंतु इस स्थिति के लिए दोषी कौन? हल्ला हो जाने पर दिल्ली विकास प्राधिकरण (डी.डी.ए.) दिल्ली नगर निगम को दोषी ठहराती और दिल्ली नगर निगम डी.डी.ए. को। प्रधानमंत्री, दिल्ली के उप–राज्यपाल व दिल्ली प्रशासन की ओर से बैठी विभिन्न जांच समितियों ने कुछ अफसरों व कर्मचारियों को दोषी पाया और उनका तबादला कर दिया गया। परंतु निजी बातचीत में हम–आप, दिल्ली के मध्यम–वर्गीय लोग, सरकारी अफसर, डॉक्टर, प्रशासन के अधिकारी सब मानते हैं कि "कोई क्या कर सकता है यह लोग ही गंदे हैं, अनपढ़–गंवार है, मूर्ख है, जाहिल हैं। खुद गंदगी फैलाते है, गंदगी में रहते हैं। कुछ सीखना नहीं चाहते। अपने बचाव के लिए कुछ करते नहीं। जब बीमार होते हैं तो पहले यूंही समय बर्बाद करते हैं और फिर हालत बहुत खराब हो जाने पर अस्पताल भागते हैं जब तक बहुत देर हो चुकती है।" अब तो यह भी धारणा बनती जा रही है कि इन्हें गरीब नहीं कहना चाहिए क्योंकि अब तो "झुग्गी में टेलीविजन है और फ्रिज भी। इन बस्तियों वाले सब बदमाश, चोर, शराबी, जेब–कतरे हैं। सरकार प्लॉट देती है, पक्के मकान देती है और यह लोग पैसे की खातिर उसे बेच–बेचकर वापस झुग्गियों में चले जाते है।" कहने का मतलब होता है कि यह पैसे की खातिर गंदगी में और दिक्कत में रहने में भी खुश है।

इन सब बातों से निष्कर्ष यही कि ऐसी बीमारी की समस्या के लिए दोषी यही लोग खुद है।

सुंदर नगरी के सर्वेक्षण में इस 'दोष' के सवाल का भी उत्तर पाने की कोशिश की गई। ध्यान रहे कि सुंदर नगरी एक 'नियोजित' कॉलोनी है और इसके निवासियों के हालात व उन्हें उपलब्ध जन–सुविधाएं दिल्ली के कमजोर तबकों के बहुसंख्य लोगों से बेहतर है। कुछ ठोस उदाहरणों द्वारा सवाल का जवाब स्पष्ट हो जाएगा।

बीमारी फैलने के कारण के रूप में अधिकारियों द्वारा प्रचारित हुआ उथले हैंड–पम्पों का पानी। परंतु सुंदर नगरी के निवासियों का मानना है कि मुक्ष्य समस्या पानी का स्रोत नहीं, इलाके में फैली गंदगी है।

वहां जांच करने पर पाया गया कि रोज के गंदे पानी व बरसाती पानी को उस इलाके से निकालने का कोई रास्ता ही नहीं है। नहाने–धोने का पानी व बारिश का पानी ले जाने के लिए गलियों के दोनों तरफ घरों से एकदम बाहर खुली नालियां है। और बड़ी,

फिर और बड़ी नालियों से होते हुए यह मुख्य नाले से जुड़ जाती हैं पर उस मुख्य नाले का आगे कोई निकास नहीं। वह कई साल से अधूरा बना पड़ा है। कुछ सौ फुट का फासला बाकी है केवल इसलिए कि एक स्थानीय नेता जी (जो झुग्गियों के प्रधान है और कांग्रेस नेताओं का संरक्षण पाते है) की झुग्गी रास्ते में आ रही है। इसलिए नाली–नालों के पानी को बस्ती के अंदर व आस–पास के खुले मैदानों में निकाल दिया गया है। डी.डी.ए. ने खुद यह व्यवस्था की है। एक बड़े मैदान में 'सम्प–वेल' भी खोदा है और उसमें से पानी पम्प करके सुंदर नगरी के एकदम पीछे एक दूसरे खुले मैदान में डाल दिया जाता है। यानी सारा गंदा पानी बस्ती में ही या उसके आस–पास ही भरा सड़ता, जमीन के अंदर गंदगी समेत रिसता रहे यही प्रशासन द्वारा व्यवस्था की गई है।

बड़ा नाला पूरा हो भी जाए तो कारगर व्यवस्था हो जाएगी इसमें संदेह है क्योंकि नालियों की ढलान अक्सर उल्टी है और सभी की सतह बड़े नाले से काफी नीची है तो पानी बहेगा कैसे?

ऐसे में वहां के निवासी क्या करें? चालीस–पचास हजार आबादी द्वारा इस्तेमाल किए गंदे पानी का वह क्या कर सकते हैं? कुछ शुभचिंतकों से सलाह मिलती है कि वह खुद मिलकर अपनी–अपनी गली में नाली साफ करा करें। स्थिति यह है कि खुद तो लोग पानी डालकर अपने घरों के सामने से नाली साफ करते है। परंतु कितनी बार करा करें, जब आगे बहाव ही नहीं है। नालियां साफ हो भी जाए तो सारी गंदगी इकट्ठी होकर रहेगी तो बस्ती के वातावरण में ही। बीमारी तो फिर भी उतनी ही होगी।

पानी की निकासी की यह समस्या कोई अचानक या अनजाने में नहीं बनी। प्रशासन को पहले से मालूम था कि ऐसे निचले इलाके में मनुष्यों को बसाने से यह समस्या होगी ही। इसीलिए 1961 के दिल्ली मास्टर प्लान के अनुसार यह इलाका 'इंसानों के बसने योग्य नहीं' घोषित किया जा चुका था और यहां 'हरित पट्टी' बननी थी, कॉलोनी नहीं। परंतु 75–76 के माहौल में योजना किसी तरह बदल दी गई और नंद नगरी, सुंदर नगरी, सीमापुरी आदि कॉलोनियों को बसाया गया।

जब बन ही गई थीं तो प्रशासन द्वारा सही इंतजाम किया जाना चाहिए था परंतु नहीं किया गया। यहां तक कि पिछले साल की महामारी के बाद भी इस बुनियादी कारण की ओर कुछ नहीं किया गया है।

यह पहला उदाहरण था। दूसरा उदाहरण लेते है शौचालयों का। पूरी सुंदर नगरी में सार्वजनिक शौचालयों के सात ब्लॉक बने हैं जिनमें कुल 272 सीटें काम कर रही हैं यानी लगभग 154 व्यक्तियों के लिए एक संडास। अगर सब इन्ही का इस्तेमाल करें तो प्रति व्यक्ति 5 मिनट के हिसाब से 12 घंटे से ज्यादा लगातार इस्तेमाल हों। यानी शौच जाने को सुबह से लाइन में लगिए और रात को शौच जाइए।

जो शौचालय हैं उनकी हालत देखकर लगता है कि पता नहीं लोग इन्हे इस्तेमाल क्यों करते हैं? कोई दरवाजे नहीं, सीढ़ी और संडास टूटे हुए, सेप्टिक टैंक भरे हुए है। बाहर एक हैंड–पम्प लगा है जिससे पानी निकालकर, लाकर बहाना पड़ेगा। करना चाहें तो भी हर सुबह हर संडास के बाहर लगी इंतजार कर रहे लोगों की कतार के सामने यह कैसे संभव है? बड़ों को शौचालयों मे जो दिक्कते होती है वो तो है ही छोटे बच्चों के लिए तो खतरनाक भी है और इतनी दूर हर बार मांओ के लिए ले जाना संभव नहीं। इसलिए वह मैदान में या नाली पर ही बैठते हैं या फिर पड़ोसी ऐतराज करें तो मां उन्हें घर ही में टट्टी कराती है और फिर बाहर फेंक आती है।

शौचालयों की बुरी हालत के बावजूद रोज सुबह उनमें भीड़ लगती हैं। हर संडास के सामने लाइनें बनती है। ऐसे में कई लोग मजबूरन शौचालय में परंतु संडास के बाहर ही, बैठ जाते है। कइयों ने खासकर जिनके घर के पास ही मैदान हैं व शौचालय बहुत दूर है, शौचालय के बजाए मैदान को ही नियमित जगह बना लिया है। परंतु वह भी आसान नहीं। मैदान में अक्सर पानी भरा रहता है। भैंस वालों ने कुछ हिस्से पर कब्जा जमा रखा है और उसके आस–पास बैठने नहीं देते। खुली जगह कम है व आबादी के बीच में है इसलिए अकेली जगह ढूंढना असंभव होता है। औरत–मर्द सब साथ ही होते है। इससे औरतों की मुश्किल और बढ़ती है। गांव से आए इन लोगों को खुले में जाने की आदत तो है पर वहां के खुले मैदानों– जंगलों में, बस्ती व कुओं आदि से दूर, जहां औरतों–मर्दों के लिए अलग–अलग के क्षेत्र तय रहता है। शहर में आकर पारिस्थिति अनुकूल वह अपने को ढालकर गंदे, बदबूदार, भीड़वाले शौचालयों में जाते हैं परंतु इतने कम संडास है कि सबके लिए उनका प्रयोग करना असंभव है। हर रोज ऐसे निजी काम के लिए उपयुक्त स्थान ढूंढ़ना, औरों से लड़ते–झगड़ते, मजबूरन लाज–शर्म छोड़ सबके सामने बैठते, यहां के हर निवासी के आत्म–सम्मान को झकझोर जाता है।

पिछले साल की महामारी के बाद सुलभ शौचालय बन रहे हैं। सुंदर नगरी में चार ब्लॉक बनाने की योजना है जिनके चालू होने पर 154 व्यक्ति प्रति संडास से घटकर हो जाएंगे। 89 व्यक्ति प्रति सीट। इससे क्या कारगर फर्क पड़ेगा।

विकल्प भी सामने था। कई सालों से सुंदर नगरी में सीवर लाईन डली हुई हैं परंतु उन्हे चालू नहीं किया गया। बहुत से लोग इसी इंतजार में बैठे है कि कब यह चालू हो और कब हम अपने घर में 'फ्लश' लगवाएं। सब नहीं लगवा पाएंगे परंतु इससे सार्वजनिक शौचालयों पर भार कम होगा तो सभी को फायदा हो जाएगा। पानी का तीसरा उदाहरण है। कुछ विशेषज्ञ का कहना है कि इलाके में गंदा पानी अपनी जगह रहे पर लोगों को साफ पानी उपलब्ध करवा दिया जाए तो उल्टी–दस्त की बीमारी से निपट सकते है। अगर यह बात मान भी लें (जो व्यवहारिक तौर पर पूरी तरह सही नहीं लगती) तो आईए देखें लोग 'साफ' पानी क्यों नहीं पीतें।

पहले तो सुंदर नगरी में डी.डी.ए. द्वारा लगाए केवल 15–20 फुट गहरे हैंड–पम्प

ही थे, हर गली में एक या दो लगने के बाद इनकी देख–रेख कभी नहीं की गई। जब भी खराब हुए गली के लोगों ने ही पैसा इकट्ठा करके खुद मरम्मत करवाई। कम व खराब पड़े हैंड–पम्पों के कारण लगभग 40 प्रतिशत परिवारों ने अपने हैंड–पम्प भी लगवा लिए। कुछ पड़ोसियों ने मिलकर 5–6 परिवारों का साझा हैंड–पम्प लगवाया। प्रशासन की ओर से एक और व्यवस्था भी की गई थी पर कई सालों से वह लगभग बंद पड़ी थी। शुरू में तीन ट्यूब–वेल लगाए गए थे जो 100–150 फुट की गहराई से पानी खींचते थे जिसे ब्लीचिंग पाउडर मिलाकर सभी गलियों में सार्वजनिक नल द्वारा दिया जाता था। यह पानी कीटाणु रहित है क्योंकि गहराई से है और फिर ब्लीचिंग पाउडर भी डाला है। एक ट्यूबवेल से बहुत खारा पानी आता था तो उसे बंद कर दिया गया। दूसरा बिजली का कनेक्शन न मिलने के कारण बंद पड़ा है। अब केवल एक ट्यूबवेल से सारी कॉलोनी में पानी दिया जाता है। काफी समय से उसकी सप्लाई बहुत कम व अनियमित थी इसलिए लोग उस पर निर्भर नहीं रहते थे हैंड–पम्प ही इस्तेमाल करते। परंतु पिछले साल के हल्ले के बाद से वह पानी अब नियमित आता है।

पिछले साल ही महामारी के दौरान प्रधानमंत्री के एक्शन प्लान के तहत घर–घर में पाईप द्वारा मेन सप्लाई से पानी का कनेक्शन दिया गया। लगभग 70 प्रतिशत परिवारों ने 400–500 रुपये खर्च करके (कइयों ने कर्जा लेकर) नल लगवाया। गलियों में दो सार्वजनिक नल भी लगाए जिससे ज्यादा कमजोर तबके वाले 30 प्रतिशत परिवारों को भी यह 'साफ पानी' उपलब्ध था। परंतु कुछ ही महीने बाद फरवरी 89 में यह सार्वजनिक नल प्रशासन द्वारा उखाड़ लिए गए और सुंदर नगरी के कमजोर तबकों में से भी सबसे कमजोर तबके के लिए 'साफ' पानी की व्यवस्था नहीं बची। जिनके घरों में नल है उनके भी साफ पानी कम व अनियमित आता है। किसी को मालूम नहीं कब पानी आएगा और कब कई दिन गायब रहेगा। ऐसे में लोग उन्ही उथले हैंड–पम्पों के पानी का प्रयोग करें तो किसे दोषी ठहराया जाएं, विकल्प क्या हैं, एक संभव विकल्प हो सकता था कि स्थानीय ट्यूबवेल वाली व्यवस्था को ही और मजबूत किया जाता और उसी से सभी घरों में साफ पानी भेजा जाता तो अभी की व्यवस्था की कई कमियों से बचा जा सकता था। दूर से आ रही पाइपों में ज्यादा जगह टूटने, उनमें पानी का प्रेशर कम होने और पानी में प्रदूषण बढ़ने की ज्यादा संभावना रहती है। स्थानीय इंतजाम से खर्चा भी कम हो और छोटी पाईप–लाईन होने से यह सब नुकसान भी कम हों। दिल्ली की मुख्य सप्लाई व्यवस्था से यहां की सप्लाई को जोड़ देने से होगा यह कि पानी हमेशा यहां से काटकर ज्यादा समृद्ध कॉलोनियों को दे दिया जाएगा। स्थानीय व्यवस्था से यह संभव नहीं होता।

III

चौथा उदाहरण है चिकित्सा सेवाओं का

पूरी सुंदर नगरी के लिए दिल्ली प्रशासन द्वारा संचालित एक डिस्पेंसरी है जिसमें केवल रोजमर्रा की बीमारियों की सामान्य दवा दी जाती है। लगभग एक किलोमीटर दूर

नंद नगरी की बड़ी डिस्पेंसरी हैं जहां लैबोरेटरी भी है, जन्म–मरण पंजीकरण आदि होता है पर इलाज केवल वही रोजमर्रा का। दो किलोमीटर दूर गुरु तेग बहादुर अस्पताल है। इन सरकारी सुविधााओं के अलावा सेंट स्टीफन्स अस्पताल द्वारा संचालित एक डिस्पेंसरी व उसके स्थानीय स्वास्थ्य कार्यकर्ता भी है।

परंतु लगभग 90 प्रतिशत परिवार प्राईवेट डॉक्टरों से ही आमतौर पर ईलाज करवाते है। 25 प्रतिशत सरकारी डिस्पेंसरी से भी दवा लेते है और 15 प्रतिशत अस्पताल से भी। सुंदर नगरी वासियों ने अनुभव से सीखा है कि रोजमर्रा के इलाज के लिए तो प्राइवेट डॉक्टर ही सही है। गंभीर हालत हो जाने पर अस्पताल या प्राइवेट नर्सिंग होम के बीच द्वंद्व रहता है।

आम राय है कि प्राइवेट डॉक्टर पैसा बनाने में लगे है और कुछ खास जानकार नहीं है। परंतु उनसे इलाज कराना सुविधाजनक है क्योंकि उनकी दुकान पास है और दुकान खुलने का समय ऐसा कि सहुलियत अनुसार जा सकें। कुछ आस–पास ही रहते है और जरूरत पड़ने पर किसी भी समय बुलाए जा सकते है। ज्यादातर वह अपने पास से ही दवा देते है जिससे सुविधा भी है और अक्सर सस्ता भी पड़ता है। प्राइवेट डॉक्टर बात भी ज्यादा ध्यान से सुनते है और तमीज से बात करते है।

सरकारी संस्थानों से आम शिकायतें है कि वह असुविधाजनक है। खुलने का समय बाहर काम पर जाने वालों के लिए उपयुक्त नहीं है। भीड़ के कारण बहुत इंतजार करना पड़ता है और कई लाइनों में लगना पड़ता है जिससे लगभग पूरा दिन ही निकल जाता है। दवाएं कम ही मिलती है और दुकान से खरीदनी पड़ती हैं तो खर्चा तो होता ही है। इस सबके अलावा सरकारी डॉक्टरों व अन्य कर्मचारियों के बरताव के खिलाफ आम गुस्सा है– "हम गरीबों की नहीं सुनते" ... "बस उन्ही पर ध्यान देते है जिसकी जान–पहचान हो या पढ़े–लिखे अमीर हों" "खुद कुछ बताते नहीं, बस दो गोली देकर भेज देते हैं, पूछो तो डांटकर भगा देते है।"

ऐसे में लोग मरीज को अस्पताल देरी से ले जाए तो इसमे उनका क्या दोष है।

यह हालात जानते हुए भी पिछले साल के हल्ले के बावजूद हैजे की महामारी फैलने पर सौ साल से अमल में लाई गई व लाभकारी सिद्ध चिकित्सा व्यवस्था नहीं की गई। हैजे जैसी तेजी से घातक होने वाली बीमारी व इसके आसान इलाज को देखते हुए सिद्ध कारगर तरीका रहा है स्थानीय चिकित्सा कैम्प लगाने का। परंतु पिछले साल विशेष कैम्प तो दूर, स्थानीय डिस्पेंसरी तक में कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गई। उतने ही डॉक्टर व अन्य कर्मचारी तैनात रहे। उतने ही घंटे डिस्पेंसरी खुलती है। हैजें की महामारी के दौरान कॉलोनी के बीच स्थित डिस्पेंसरी में एक भी बोतल नहीं चढ़ाई गई।

विशेष काम किया गया हैजे के टीके लगाने का जो कि सभी विशेषज्ञों ने काफी समय से बेकार करार कर रखा है। दूसरा काम किया गया 'जीवन रक्षक घोल' के प्रचार का व उसके पैकटे बांटने का। इसका यह असर तो हुआ कि 70 प्रतिशत बीमारों ने इसे

इस्तेमाल किया। यह अपने–आप में महत्वपूर्ण बात है। परंतु इन 70 प्रतिशत ने सही इस्तेमाल किया होगा इसमें संदेह है। यह तो सबको मालूम था कि "एक लीटर पानी में एक पैकेट घोलना है" पर यह नहीं मालूम कि कितना घोल, कितनी बार, कब तक पीना है। अपूर्ण जानकारी के कारण उसके असर के बारे में अनेक भ्रांतियां भी फैलीं। अन्य घरेलू पेय नींबू चना, नमक घोल, चावल का माढ़, दाल का पानी आदि के बारे में प्रचार न करके बने–बनाए पैकेटों के कारण भी संदेह है कि आने वाले सालों में जब पैकेट नहीं बंटेंगे या नहीं होंगे तो घरेलू पुनर्जलन किया जाएगा। यानी लोगों को इलाज का यह आसान तरीका जिससे उनके बच्चों की जाने बच सकती है सिखाने का एक अच्छा मौका खो दिया गया।

गुरु तेग बहादुर अस्पताल में विशेष 'हैजा वार्ड' खोलना स्वास्थ्य विभाग का तीसरा काम था। जीवन रक्षक घोल के अलावा वहां कुछ विशेषता नजर नहीं आई। एक मरीज के मल व वमन से सनी चादर पर ही दूसरे को लाकर लिटा दिया जाता मरीजों की बीमारी फैलाने वाले मल–वमन से निपटने का कोई इंतजाम नहीं। हां, कुछ अन्य संस्थानों से अतिरिक्त डॉक्टर आए थे।

वैकल्पिक तरीका होता कि टीका लगाने के बजाए वही स्वास्थ्य–कर्मी पुनर्जलन की पूरी जानकारी देने पर ज्यादा ध्यान व समय लगाते। साथ ही स्थानीय डिस्पेंसरी में विशेष इंतजाम करके चौबीसों घंटे वहां चिकित्सा सेवाएं उपलब्ध रहतीं वहीं जांच के लिए मल के सैम्पल लेने मौखिक पुनर्जलन करने व जरूरत पड़ने पर 'बोतल' चढ़ाने की व्यवस्था आवश्यक थी। सुंदर नगरी में हुई बीस मौतों में से चौदह को ऐसे इंतजाम से शायद बचाया जा सकता। तुरंत स्थानीय इलाज मिलने में गुणात्मक फर्क है ऐसा करना नामुमकिन भी नहीं था। दिल्ली में स्वास्थ्य कर्मियों की भरमार है– चार मेडिकल कॉलेज, दसियों सरकारी अस्पताल हैं, नगर निगम व दिल्ली प्रशासन की स्वास्थ्य सेवाएं हैं। उन्हें ऐसे इलाकों में पूरे बल के साथ लगा दिया जाता तो लगभग सभी जानें बच सकती थीं। ■

दिल्ली के स्वास्थ्य का तकाज़ा*

दिल्ली की नई सरकार व उसके स्वास्थ्य मंत्री के जज़्बे ने उम्मीद जगाई है कि सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में अब सुधार होगा। आम आदमी पार्टी के मंत्री ने सरकारी अस्पतालों में सुधार को प्राथमिकता देते हुए कई कदम घोषित किए हैं। साथ ही नए अस्पताल व स्वास्थ्य केन्द्र बनाने की इच्छा भी व्यक्त की है।

I

स्वास्थ्य सेवाओं की ढांचागत कमज़ोरियों को दुरुस्त करना

दिल्ली में सौ से अधिक सरकारी हस्पताल, डिस्पेंसरी व मातृ–शिशु केन्द्र, मातृत्व केन्द्र इत्यादि हैं, जो जनसंख्या के अनुपात में अधिकांश राज्यों से कहीं अधिक हैं। फिर भी इनमें से अधिकांश अपनी क्षमता से कहीं ज्यादा मरीजों को बहिरंग विभाग में देखते व वार्ड में भर्ती करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अक्सर खाली से नज़र आते हैं। परन्तु सभी से लोगों को शिकायत रहती है, पूर्णतः सन्तोषजनक सेवाएं नहीं मिलतीं। इसका एक कारण दिल्ली की सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की ढ़ाँचागत कमज़ोरियां रही हैं। इसका राष्ट्रीय राजधानी व पहले केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र से धीरे–धीरे राज्य बनने, दिल्ली और नई दिल्ली की दो अलग कॉरपोरेशन होने के कारण स्वास्थ्य व्यवस्था कई प्रशासनिक संस्थानों में खंडित है। इससे सेवाओं में तालमेल में कठिनाई तो आती ही है। साथ ही प्रशासनिक कार्यों के दोहराने की प्रक्रिया से (डियूपलिकेशन) से सार्वजनिक खर्च बढ़ता है और जवाबदेही (अकाउन्टेबिलिटी) से बचने का रास्ता रहता है।

दूसरी मुख्य विसंगति तो हमारी सम्पूर्ण स्वास्थ्य व्यवस्था में व्याप्त है – डाक्टरी इलाज पद्धति, और उसमें भी विशेषज्ञ की ही, प्रमुखता को स्वास्थ्य सेवाओं का आधार मानकर इससे लोगों की अपनी समझ, लोक परम्पराओं, घरेलू नुस्खों व प्रचलित विभिन्न पद्धतियों को औपचारिक मुख्यधारा से अलग–थलग कर दिया गया।

इससे डाक्टर सेवाओं पर ही सरकारी तव्वजो रही परन्तु जितना विस्तार उनका करने की ज़रूरत थी उतना बजट उन्हें भी नहीं मिला। अन्य स्वास्थ्य परम्पराएं लोगों द्वारा इस्तेमाल होती रहीं, मगर डाक्टरों से लुक–छिप कर इस प्रकार बुनियादी प्राथमिक सेवा बनी नहीं और नई तकनीक पर अस्पताल खर्च करने लगे। प्राथमिक, द्वितीय और तृतीय तीनों स्तरों की सेवाओं के लिए अस्पतालों में भीड़ लगने लगी। डाक्टरों व नर्सों पर काम का भार अत्यधिक बढ़ गया। और संसाधन की कमी के बीच अपनी जिम्मेवारियों के निर्वहन की कोशिश करते डाक्टर व नर्सें लोगों से दूर होते गए।

* 22 जनवरी 2014 को 'चिकित्सा तंत्र की बीमारी' शीर्षक से जनसत्ता में संपादित रूप में छपा लेख

स्वास्थ्य सेवाओं की इन्हीं ढाँचागत कमियों के कारण डाक्टरों व अन्य कर्मियों का आम रवैया ऐसा हो जाता है कि "यह मरीज़ और उनके रिश्तेदार हमारे काम में बाधा हैं"..."हम इतना ही कर सकते हैं, बाकि मरीजों को झेलना ही पड़ेगा।" 'सब चलता है' से बढ़कर भ्रष्टाचार करना छोटा कदम रह जाता है।

भ्रष्टाचार के भिन्न रूप

स्वास्थ्य सेवाओं में भ्रष्टाचार दो प्रकार का है – एक जो सभी विभागों जैसा है, यानि सीधे दवाओं, मशीनों इत्यादि की खरीद–फरोख्त, कॉन्ट्रैक्ट व ट्रांसफर–पोस्टिंग में और मरीजों से पैसा माँगना। दूसरा, विशिष्ट रूप है मरीजों के इलाज में गैर जरूरी टैस्ट, दवाएं इत्यादि लिखना जिससे न सिर्फ खर्च बढ़ता है परन्तु मरीज़ की सेहत पर बुरा असर करके घातक बन सकता है। दोनों जुड़ी हुई मगर भिन्न समस्याएँ हैं और दोनों का समाधान करके ही स्वास्थ्य सेवाओं को भ्रष्टाचार मुक्त बनाया जा सकता है।

स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता (क्वालिटी) की आवधारणा तय करेगी कि सुधार कैसे होंगे। आजकल 'क्वालिटी' का मतलब अधिकाधिक मशीनीकरण और चकमक करते काँच और संगमरमर को मान लिया जाता है। मरीज़ इनसे अपना मन बहलाता है और कर्ज़ लेकर मोल चुकाता है। परन्तु इनसे वास्तविक गुणवत्ता और विश्वसनीयता नहीं बनती। सर्वमान्य है कि विश्वास तो पारदर्शिता, नैतिक आचरण, सम्मान व सौहार्द भरा व्यवहार, सुरक्षित व न्यूनतम दवा–जाँच कराने और मरीज़ का आत्मविश्वास पुष्ट करने से हासिल होता है। ऐसे बदलाव के लिए व्यवस्था में वांछनीय गुणों को बढ़ावा देने की ज़रूरत होगी।

॥

लोक सशक्तीकरण और स्वास्थ्य

लातिन अमरीका के प्रसिद्ध विचारक, ईवान इलिच, ने आधुनिक डाक्टरी पद्धति के प्रसार से जुड़े तीन तरह के बुरे असर चिन्हित किए हैं–शारीरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक। दवाओं इत्यादि के शारीरिक बुरे असर पर तो चर्चा आजकल काफ़ी होती है परन्तु दूसरे असर भी यहां प्रसांगिक हैं। आधुनिक डाक्टरी व्यवस्था लोगों के अपने पर भरोसे और आत्मविश्वास को कैसे कुन्द करती है और लोगों के आपसी रिश्तों को कमजोर करती है, यह उन्होनें बखूबी वर्णित किया है। गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में इस ओर इशारा किया था और वह प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग पर बल देते थे। 1970–80 के महिला आन्दोलन ने भी इसी तर्ज़ पर स्वास्थ्य में स्वावलम्बन की बात आगे बढ़ाई थी। चीन में क्रान्ति पश्चात राष्ट्रीय स्वास्थ्य बजट का लगभग आधा भाग स्थानीय, देशज ज्ञान की सेवाओं को दिया गया। गाँधी और माओ, महिला आन्दोलन, सभी बदलावकर्ताओं

के लिए लोगों का स्वास्थ्य–ज्ञान और परम्पराएं केवल स्वास्थ्य लाभ का ही नहीं, बल्कि जन–सशक्तिकरण का औज़ार भी थे।

अब तो आधुनिक मेडिकल विज्ञान भी पारम्परिक पद्धतियों का महत्व मानता है और अपने विकास के लिए इन पर शोध कर रहा है। इसलिए आज आवश्यक है कि लोगों द्वारा विभिन्न पद्धतियों के इस्तेमाल को प्रोत्साहन दिया जाए। विभिन्न शोध दिखाते हैं कि परम्परागत पद्धतियों के ज्ञान के अनुकूल आज भी सही प्रथाएं लोक परम्परा में प्रचलित हैं। दिल्ली के गरीब वर्ग में डाक्टरी इलाज के साथ–साथ घरेलू इलाज, जड़ी–बूटी का इस्तेमाल खासकर उन प्रवासियों में सबसे अधिक है जिनका गाँव से अभी भी रिश्ता है। मध्यम वर्ग में कुछ हिस्से में प्रचलन जारी रहा है, खासकर जहाँ बुजुर्ग परिवार के साथ रहते हैं, और युवा पीढ़ी जो इस ज्ञान से वंचित है वह इसे जानने के इच्छुक होते जा रहे हैं। जो दिल्ली के गरीब अनेक जड़ी–बूटी, पेड़–पौधे यहाँ ही ढूँढ लेते थे और मुफ्त अपना इलाज कर लेते थे, वह आज इस प्राकृतिक धरोहर से वंचित होते जा रहे हैं। तो अब क्या कर सकते हैं?

सरकारी पार्कों व खुली जगहों पर ऐसे औषधीय पेड़–पौधे लगाकर यह साधन उन्हें दोबारा उपलब्ध कराया जा सकता है। स्कूलों में औषधीय बगीचे लगवाकर व बच्चों को उनकी जानकारी देकर लुप्त होते ज्ञान के पुनर्जीवन का संदेश भी सभी तक पहुंचेगा। राष्ट्रीय मेडिसिनल प्लान्ट बोर्ड इसके लिए सहायता प्रदान करता है व देश में अनेक प्रकल्प अपने अनुभव का योगदान दे सकते हैं।

साथ मिलकर सामुदायिक कार्य करना, जैसे कि सफ़ाई और पानी की व्यवस्था का मौहल्ले में जिम्मेवार इस्तेमाल सुनिश्चित करना, समुदाय में बड़े–बुजुर्ग और बीमार की व्यवस्थित मदद करना इत्यादि सामुदायिक सशक्तीकरण का दूसरा स्वरूप है।

लोक सशक्तिकरण का तीसरा कोण है सेवा प्रदान करने वाली व्यवस्था में आत्म–विश्वास के साथ भागेदारी करना। सामुदायिक निगरानी के लिए औपचारिक स्वास्थ्य समितियाँ गठित हों जो प्रशासन व स्थानीय स्वास्थ्य केन्द्र से तालमेल रखें, समस्याएं उजागर करें व समुदाय के नज़रिए से हल सुझाएं। इलाके के सबसे गरीब/वंचित सदस्यों की ज़रूरतों पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने से सभी की बुनियादी समस्याओं का कारगर हल निकलेगा।

चौथा कोण है सजग सक्रिय रोगी कल्याण समितियों का जो सभी अस्पतालों और स्वास्थ्य केन्द्रों के संचालन में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को औपचारिक स्थान देती हैं। पहले वर्णित मरीजों व डाक्टरों आदि के बीच संवाद भी इसीकी जिम्मेवारी हो। इस प्रकार सरकारी सेवाओं की ढ़ांचागत कमजोरियों व गवर्ननैंस में लोगों की भागीदारी के अभाव को दूर किया जा सकता है। प्रशासनिक सेवाएँ प्रदान करने वालों की मुश्किलें हल होंगी और लोगों को आत्मविश्वास और सन्तुष्ट करने वाली सेवाएं प्रदान की जा सकेंगी।

सेवाओं में ढाँचागत सुधार

दिल्ली में विश्वसनीय स्वास्थ्य सेवाओं की आपूर्ति करने और जो हैं उन्हें चुस्त–दुरूस्त बनाने के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण स्वास्थ्य सेवाओं के ढाँचे का पुनर्वालोकन किया जाए। इस ओर पब्लिक हेल्थ के कुछ मूल सिद्धान्त व दिल्ली की परिस्थिति में उनके अनुसार आवश्यक कदम गौरतलब हैं :

1. प्राथमिक, द्वितीय और तृतीय स्तर की सरकारी सेवाओं का आपसी ताल–मेल हो और वह सभी को ज़रूरत अनुसार उपलब्ध हों।

2. हर हेल्थ सेंटर व अस्पताल की कार्यकुशलता व खर्च तर्क संगत (कॉस्ट–इफैक्टिव) हो ही, साथ ही पूरा ढाँचा भी प्रभावी बनाया जाए। जैसे कि प्राथमिक व द्वितीय स्तर के हेल्थ सेन्टर व अस्पताल का विस्तार और सुधार हो ताकि बड़े अस्पतालों में मरीजों की भीड़ कुछ कम हो जाए। इससे न केवल मरीजों को घर के करीब रोजमर्रा की समस्याओं के लिए सेवाएँ मिल जाएँगी बल्कि वह तुलनात्मक रूप से कम खर्च में उपलब्ध हो जाएंगी। दिल्ली के हर ज़िले में सभी सरकारी सेवाओं (दिल्ली सरकार, एम.सी.डी., एन.डी.एम.सी., ई. एस.आई.व सी.जी.एच.एस.) का समग्र अवलोकन करके ज़रूरत अनुसार नए स्वास्थ्य केन्द्रों व अस्पतालों का स्थान तय हो। ज़मीन की किल्लत अक्सर समस्या बनती है। कोई खाली पड़ी सरकारी जमीन/इमारतों के उपयोग से व जनता से अपील कर खाली घर स्वास्थ्य विभाग को न्यूनतम किराए पर/दान देने पर समाधान मिल सकता है।

3. शहर में अनेक मिशनरी अस्पतालों (चर्च सम्बन्धित, रामाकृष्ण मिशन, वक्फ बोर्ड इत्यादि द्वारा संचालित) ने कम खर्च में बेहतर सेवाएं उपलब्ध कराने के तरीके अपनाए हैं। उनसे सीखा भी जाए और सरकारी कार्यक्रमों में जोड़ा भी जाए।

4. दवा व टेस्ट के तर्कसंगत इस्तेमाल को बढ़ावा दिया जाए जिससे प्रति मरीज खर्च भी कम हो और इलाज के नकारात्मक असर भी नियन्त्रित हों। उपयुक्त डाक्टरी इलाज के लिए 'स्टैण्डर्ड गाइडलाईन' बनाई जाती हैं। देश में सरकारी सेवाओं में पहली बार दिल्ली में ही अस्सी के दशक में इनका इस्तेमाल हुआ था। उस प्रयोग में अब नई जान फूंकने की आवश्यकता है। अगर हर पद्धति के उपयुक्त प्रयोग को स्थान दिया जाए तो स्टैण्डर्ड गाइडलाईन्ज़ की विशिष्ट भारतीय रूप–रेखा बन जाएगी, जो दिल्ली और भारत ही नहीं बल्कि विश्व को स्वास्थ्य सेवाओं के वर्तमान संकट से निकलने का रास्ता दिखा सकती है।

5. दवाओं इत्यादि की केन्द्रीय खरीद करके सभी सेन्टर/अस्पताल को उनकी ज़रूरत अनुसार वितरित करने की सुदृढ़ व पारदर्शी व्यवस्था की जरूरत है। तमिलनाडु का एक कारगर उदाहरण है, जिससे वहां देश में प्रति मरीज दवा का खर्च सबसे कम है और सभी मरीजों को सही दवाएँ मुफ्त मिल जाती हैं।

6. डाक्टर, नर्स व अन्य स्वास्थ्यकर्मियों के रिक्त स्थान भरे जाएं। अभी प्रचलित

कॉंट्रैक्ट प्रथा के बजाय स्थायी पद बढ़ाए जाएं। पैरामेडिकल स्टाफ को उनका काम करने दिया जाए न कि क्लर्कों की कमी के चलते उन्हें वह काम सौंप दिया जाए।

7. प्रशासन व जनता, दोनों द्वारा मॉनिटरिंग की पुख्ता व्यवस्था हो। 'सपोर्टिव सुपरविजन' यानि सहयोगी निरीक्षण न होना स्वास्थ्य सेवाओं की एक बड़ी कमी रही है जिसको दूर करना आवश्यक है।

8. साथ ही जनता का योगदान पाने के लिए स्थानीय मोहल्ले की जन–स्वास्थ्य–समितियाँ बनें जो सभी स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं को लोगों के अनुकूल बनाने में मददगार हों और निगरानी भी करें।

9. एम्ब्यूलेन्स सेवाओं में बढ़ोतरी की जरूरत है ताकि मरीजों को आने या दूसरे अस्पताल रेफर होने पर जाने में कम दिक्कत हो।

10. डाक्टरों को नैतिक आचरण व मरीज़ों और उनके रिश्तेदारों से उचित व्यवहार बरतने के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए उनके बीच परिचर्चाएं आयोजित की जाएं। डाक्टरों, नर्सों व अन्य अस्पताल कर्मियों और मरीजों के बीच सार्वजनिक वार्ता का सिलसिला चलाया जाए। हर अस्पताल में स्थायी तौर पर यह मासिक संवाद आयोजित हो तो सभी को एक–दूसरे की समस्याएँ/बाधाएँ समझने का मौका मिले व साझे लक्ष्य, यानि मरीज़ के कष्ट निवारण, की ओर बेहतर बढ़ा जा सकेगा। इस काम का जिम्मा सामाजिक कार्यकर्ताओं का हो, जो दोनों पक्षों के विश्वासपात्र हों। स्वास्थ्यकर्मियों की अनेक कमियों के साथ–साथ यह भी देखना होगा कि व्यवस्था की कमजोरियों के कारण उनको काम करने में अक्सर जो कठिनाई आती हैं वह कैसे दूर की जाए। सरकारी सेवाओं में अनेक डाक्टर तन–मन से ईमानदारी पर्वूक अपना फर्ज निभाते हैं। ऐसे कर्मियों के साथ मिलकर सेवाओं का कायाकल्प किया जा सकता है।

इसके अलावा दिल्ली सरकार के स्वास्थ्य विभाग के ज़ोनल व जिला कार्यालय हैं जिनकी ज़िम्मेवारी अपने क्षेत्र की जनता के स्वास्थ्य की निगरानी करना, स्वास्थ्य समस्याओं के कारणों की रोकथाम के उपाय करना और इलाज के लिए सेवाओं की व्यवस्था का संचालन करना है। पहली जिम्मेवारी का निर्वहन तो न के बराबर होता है जबकि दूसरे में दिक्कतें हैं क्योंकि सेवाओं के ढ़ांचे में बिखराव बहुत है। दिल्ली सरकार का स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग, एम.सी.डी., एन.डी.एम.सी., सी.जी.एच.एस., ई.एस.आई., सभी के बीच बेहतर ताल–मेल बिठाने और हर एक की जिम्मेवारियों का पुनर्वलोकन करके तर्कसंगत बंटवारा करने की आवश्यकता है। स्वास्थ्य विभाग के अन्दर दोनों डायरेक्टोरैट (स्वास्थ्य व परिवार कल्याण) और स्वास्थ्य मिशन को एक ही समग्र ढ़ाचे में एकत्रित करने से कार्य–कुशलता कई गुणा बढ़ सकती है।

राजनैतिक इच्छा शक्ति व सार्वजनिक लोक सदइच्छा का आज से बेहतर मंजर तो दिल्ली में मुश्किल ही मिलेगा। इन उदाहरणार्थ दिए सुझावों से स्पष्ट होगा कि इस मौके

का सदुपयोग करने के अनेक स्तरों पर काम की आवश्यकता है। सबकी मिलकर कोशिश होगी तो कारगर और स्थायी प्रगति अवश्य होगी। देश के अनेक अनुभवी स्वास्थ्य विशेषज्ञ व एक्टिविस्ट आम आदमी पार्टी को अपना योगदान देने को आतुर हैं। आवश्यकता है एक ऐसे मंच की जहां उनका योगदान संयोजित हो सके। देश के अनेक सफल प्रयोगों का फायदा उठाते हुए फौरी व दीर्घकालिक कदम तय करके योजनाबद्ध ढंग से दिल्ली की स्वास्थ्य व्यवस्था को ठोस बदलाव की ओर बढ़ाया जाए। ■

खण्ड – 4

लोक स्वराज वाली स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था

समग्र स्वास्थ्य नीति के आधार : अवसर एवं चुनौतियाँ*

दुनिया भर में स्वास्थ्य सेवाओं का संकट गहरा रहा है। पिछले डेढ़ सौ सालों में बनीं यूरोप और उत्तरी अमेरिका की सेवाएं उनके लिए भी अत्यधिक महंगी और एकांगी साबित हो रही हैं। मकिंजी कंपनी ने अनुमान लगाया था कि अगर स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च ऐसे ही बढ़ता रहा तो 2100 में अमेरिका को अपनी सकल आय का सत्तानवे फीसद और यूरोप को साठ फीसद स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च करना पड़ेगा। फिर भी राष्ट्रपति क्लिंटन और ओबामा की स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार की कोशिशें वर्तमान व्यवस्था के निहित स्वार्थों के आगे कमज़ोर पड़ गईं। अगर भारत स्वास्थ्य व्यवस्था का एक संगत मॉडल खड़ा कर सके तो वह भारतवासियों का दुख–दर्द कम करने के साथ–साथ अमीर और गरीब, सभी देशों के लिए मिसाल बन सकता है।

हमारे बहुलतावादी समाज में विविध ज्ञान–पद्धतियां और मिश्रित आर्थिक व्यवस्था, विभिन्न धर्म और संप्रदाय पनपते हैं। ऐसे समाज के अनुकूल स्वास्थ्य व्यवस्था तो बहुलवादी और बहुआयामी ही हो सकती है। स्वास्थ्य संबंधी लोक व्यवहार और जन–मानस इसी प्रकार का है। ऐलोपैथिक और गैर–ऐलोपैथिक शास्त्रीय स्वास्थ्य पद्धतियों के अलावा, लोक परंपराओं और विभिन्न पद्धतियों का इस्तेमाल देश के सभी हिस्सों में होता है। अब औपचारिक स्वास्थ्य सेवा को भी तर्कसंगत ढंग से समाज अनुकूल बनाने की जरूरत है। ऐलोपैथिक सेवाएं प्रभावकारी होने के बावजूद कई मामलों में सीमित ही हैं। अमेरिका में असामयिक मृत्यु के कारणों में हृदय रोग और कैंसर के बाद ऐलोपैथिक इलाज के कुप्रभाव को तीसरे स्थान पर रखा गया है। इसी प्रकार हर पद्धति के प्रभाव–क्षेत्र और कमियां हैं।

इसीलिए सरकार जब भारत देश और हर भारतीय की अंतर्निहित शक्ति को मुखरित करने को प्रतिबद्ध हो, तब स्वास्थ्य व्यवस्था की अवधारणा में मौलिक बदलाव जरूरी होगा। भारतीय जनता पार्टी के 2014 के राष्ट्रीय चुनाव घोषणापत्र में स्वास्थ्य नीति संबंधी तीन बिंदु इस ओर इशारा करते हैं। एक है स्वास्थ्य सेवाओं, खाद्य और पोषण सुरक्षा और औषधियों से जुड़े विधि विभागों को समेकित करना। इसकी उपयोगिता स्पष्ट है और इसलिए उम्मीद है कि मंत्रालयों के पुनर्गठन में ऐसा जल्द ही किया जाएगा।

दूसरा है 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य आश्वासन मिशन' का गठन। और तीसरा है भारतीय

---

* 17 जून 2014 को जनसत्ता के सम्पादकीय पृष्ठ पर छपे लेख को बढ़ाते हुए यह आलेख वर्तमान सम्भावनाओं व चुनौतियों को स्वराज की नज़र से चिन्हित करता है।

स्वास्थ्य पद्धतियों और आधुनिक विज्ञान एवं 'आयुर्जीनॉमिकस' के समेकित कोर्स की शुरुआत और इन पद्धतियों को प्रोत्साहन के लिए सरकारी निवेश बढ़ाना। अगर इन दोनों की एक समग्र, वास्तविक रूपरेखा बने तो ये भारतीय स्वास्थ्य व्यवस्था को समयानुकूल रूप देने की क्षमता रखते हैं। परन्तु यह किन्हीं विशेषज्ञों या किसी एक ज्ञान पद्धति की वर्चस्ववादी सोच से प्रेरित होंगे या स्वराज की सोच से, उससे तय होगा कि स्वास्थ्य व्यवस्था कितनी लोक हितकारी बनेगी। स्वराज की समग्र व लोक सशक्तीकरण वाली सोच की हम इस पुस्तक के परिचय में पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

घोषणापत्र में विस्तृत विवरण संभव नहीं होता। 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य आश्वासन मिशन' द्वारा सभी को कौन–सी स्वास्थ्य सेवाएं, कैसे मिलेंगी, इसका संपूर्ण ब्यौरा नहीं मिलता। अनेक छितरे हुए बिंदु हैं। कुछ बिंदु स्वास्थ्य व्यवस्था संबंधी विज्ञान के मूल सिद्धांतों और अध्ययनों की अनदेखी दर्शाते हैं। पर अगर सभी का सार निकालें तो ये स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ और बहुलतावादी बना कर हर भारतवासी की देखभाल सुनिश्चित करने की सदिच्छा दर्शाते हैं। पिछले सात दशकों की उपलब्धियों को देशज धरोहर से जोड़ते हुए आगे बढ़ने का ढांचा गढ़ने का यह मौका है। इसको ठोस लोक सशक्तीकरण का रूप देना आज की चुनौती।

स्वास्थ्य सेवा की समेकित भारतीय अवधारणा भारत की विशिष्ट स्थिति से ताल्लुक रखती है, क्योंकि हमारे यहां मान्यता प्राप्त आठ चिकित्सा पद्धतियां हैं। 'आयुष' के सरकारी विभाग में आयुर्वेद, यूनानी, योग, नेचुरोपैथी, सिद्धा, सोवा–रिगोपा (तिब्बती पद्धति) और हौमियोपैथी का स्थान है, और ऐलोपैथी अलग ही विभाग है। सभी की स्नातक शिक्षा, शोध और सेवाएं जारी हैं। इसके अलावा सभी इलाकों में घरेलू इलाज और जीवन–शैली में स्वास्थ्य सुरक्षा के साथ–साथ परंपरागत इलाज करने वाले वैद्य, हकीम, सिद्धा, हड्डी बिठाने वाले, दाई, जड़ी–बूटी वाले सेवाएं प्रदान करते हैं। वर्तमान व्यवस्था में इनमें से केवल एक, यानी ऐलोपैथी को मूल आधार माना गया है। बाकी सबके इस्तेमाल को नजरअंदाज कर उनकी वैधता पर ही प्रश्नचिह्न लगाए जाते हैं। जबकि अनेक अध्ययन बताते हैं कि अन्य पद्धतियों की सेवाओं की भी भारी मांग है, बशर्ते उनकी व्यवस्था में पर्याप्त गुणवत्ता हो। अठारह राज्यों के अध्ययन पाया कि तमिलनाडु और केरल में, जहां ऐलोपैथी और आयुष, दोनों की गुणवत्तापूर्ण सेवाएं उपलब्ध हैं, इन दोनों के बहिरंग विभाग और अस्पताल भरे रहते हैं।

इसमें लोगों के घरेलू इलाज और खाद्य–पदार्थों संबंधी जानकारी को पचहत्तर–अस्सी फीसद शास्त्रीय पद्धतियों के सिद्धांतों और ग्रंथों के अनुरूप पाया गया। इस लोक ज्ञान के 'संसाधन' को एक समेकित स्वास्थ्य व्यवस्था की नींव बनाते हुए इमारत नीचे से ऊपर तक खड़ी की जा सकती है। घरेलू इलाज से शुरू होकर, परंपरागत स्वास्थ्यकर्मियों को स्वास्थ्य उपकेंद्रों–केंद्रों से जोड़ते हुए बड़े अस्पतालों तक व्यवस्था का समग्र मॉडल बन सकता है। इसकी मोटा–मोटी लागत का आकलन करने पर पाया गया कि सार्वजनिक व्यवस्था पर कम–से–कम बीस प्रतिशत खर्च कम हो जाएगा। लोगों का खर्च जोड़ दें तो और किफायत

होगी। आम आदमी के सशक्तीकरण और विभिन्न ज्ञान पद्धतियों को पुनर्स्थापित करने वाली ऐसी व्यवस्था अगर तर्कसंगत ढंग से कार्यान्वित की जाती है तो यह दुनिया के लिए एक न्यायसंगत, बहुलवादी और सातत्यपूर्ण मॉडल पेश करेगी।

इस अवधारणा के कार्यान्वयन के लिए पूर्व नीतिगत दस्तावेजों में सुझाए कदमों और नए सोच के साथ अनेक प्रामाणिक कार्य संभव हैं। देश में आयुष सेवाओं की गुणवत्ता और पहुंच बढ़ाने पर जोर दिया जाए, न कि केवल विदेशों में। चीन ने अपने स्वास्थ्य बजट का लगभग पचास प्रतिशत अपने देश में परंपरागत पद्धति पर लगाया, फिर औषधीय जड़ी–बूटी के चौवन फीसद अंतरराष्ट्रीय बाजार पर कब्जा जमा लिया।

विभिन्न पद्धतियों के जानकारों से संवाद कर आम स्वास्थ्य समस्याओं के लिए 'समेकित तर्कसंगत बचाव और इलाज के दिशानिर्देश' बनाए जाएं जिनकी सभी पद्धतियों के डॉक्टरों और आम लोगों को जानकारी हो।

सभी स्वास्थ्यकर्मियों को समेकित व्यवस्था के लिए उपयुक्त शिक्षा मिले। 'राष्ट्रीय कौशल विकास परिषद' द्वारा स्वास्थ्य के क्षेत्र में योग और जड़ी–बूटी की दवा बनाने जैसे कौशल को भी प्रोत्साहन दिया जाए। सभी जिलों में स्थानीय स्वास्थ्य संसाधन केंद्र बनें, जो स्थानीय लोक परंपराओं का अध्ययन करें और औषधीय जड़ी–बूटी सबको सुलभ कराएं। परंपरागत औषधियों के लघु उद्योग को बढ़ावा मिले। इस समेकित ढांचे के साथ–साथ आवश्यक होगा सभी स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ करना ताकि वह गुणवत्ता के साथ सब तक पहुंचे।

लोक स्वास्थ्य की समग्र दृष्टि से स्वास्थ्य व्यवस्था के मूल सिद्धांत

भाजपा के 2014 के राष्ट्रीय घोषणापत्र में स्वास्थ्य व्यवस्था के तीन मूल सिद्ध ांतों का जिक्र हैः 'पहुंच बढ़ाना, गुणवत्ता में सुधार लाना, लागत कम करना'। इसके साथ–साथ अन्य सिद्धांतों को भी ध्यान में रखना होगा। जैसे स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता की कसौटियां क्या हैं, सेवाओं का प्रभावकारी और पुसाने लायक होना; इलाज की विधि शरीर को नुकसान पहुंचाने वाली न हो; स्वास्थ्य सेवाएं विश्वसनीय हों; सेवाएं इज्जत से प्रदान की जाएं; इलाज के समय कोई खर्च न उठाना पड़े; और सेवा पाने वाले का सशक्तीकरण हो।

एक सिद्धांत यह भी है कि देखभाल करीब से करीब मिले। विभिन्न श्रेणी की संस्थागत सेवाओं में ऐसा तालमेल हो, जो कार्य निचले स्तर पर हो सकता है उसके लिए ऊपर न जाना पड़े– जो उपचार घर में हो सकता है, उसके लिए बाहर न जाया जाए, और जो इलाज उपकेंद्र में हो सके उसके लिए अस्पताल न जाना पड़े। साथ ही, विशेषज्ञ सेवाओं की वाजिब जरूरत के समय वे सबको सुलभ हों।

व्यवस्था में गुणवत्ता और विश्वसनीयता या तो सामुदायिक स्तर पर कार्यरत स्वास्थ्यकर्मियों/डॉक्टरों से आती है, सामाजिक प्रतिबद्धता वाले संस्थानों से जैसे चर्च,

रामकृष्ण मिशन, गुरद्वारे या वक्फबोर्ड के हों, या निष्ठावान स्वयंसेवी समूहों द्वारा संचालित या फिर सरकारी सेवाओं से। ये सभी 'प्राइवेट' नहीं कहे जा सकते, ये 'सार्वजनिक' सेवाओं के भिन्न रूप हैं। पिछले तीन दशकों में ही प्राइवेट खासकर कॉरपोरेट अस्पतालों को गुणवत्ता की मिसाल माना गया है। वे साफ–सफाई और साज–सज्जा में और मरीजों का समय बचाने में आगे हैं, पर गुणवत्ता के अन्य पैमानों पर कमजोर रह जाते हैं, खासकर सुरक्षित इलाज और नैतिक व्यवहार में।

अब स्वास्थ्य बीमा को लें। विभिन्न देशों के अनुभव बताते हैं कि चाहे निजी बीमा हो या सामाजिक (यानी जिसमें सरकारें प्रीमियम दें), यह व्यय नियंत्रण और गुणवत्तापूर्ण व्यवस्था का विकल्प नहीं है। अमेरिका का निजी बीमा मॉडल दुनिया में सबसे महंगा है, जिसमें बीमा लिए हुए व्यक्ति ही अधिकतर मेडिकल खर्चे के कारण कंगाल घोषित हुए हैं।

थाईलैंड और ब्राजील जैसे देश 'सामाजिक बीमा' को लागू करना छोड़ चुके हैं, और फिर अपनी अधिकतर आबादी को सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करने में कामयाब हो रहे हैं। हमारे देश में पिछले दशक में चलाई गई सामाजिक बीमा योजनाओं, जैसे 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना', 'राजीव गांधी आरोग्यश्री' आदि के विभिन्न विश्लेषण दिखाते हैं कि उनसे गैर–जरूरी इलाज और अनैतिक मेडिकल व्यवहार कैसे बढ़ा है। इसीलिए स्वास्थ्य बीमा की सीमित भूमिका ही हो सकती है।

विश्व बैंक और विश्व स्वास्थ्य संगठन भी स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में 'मार्किट फेल्योर' को पहचान कर 2000 के बाद से सार्वजनिक सेवाओं की अनिवार्यता पर जोर देने लगे हैं। यहां तर्क यह नहीं दिया जा रहा कि सभी प्राइवेट डॉक्टर बदनीयत हैं और सरकारी सबसे बढ़िया, बल्कि यह कि व्यवस्थागत तौर पर स्वास्थ्य सेवा का सार्वजनिक, गैर मुनाफे वाला स्वरूप ही सबसे उपयुक्त है।

स्वास्थ्य व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए बहुआयामी नीति निर्धारण

पिछले दशक में सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए कई पहल हुई हैं, जिनसे नीति–निर्धारण के लिए मूल्यवान सीख मिल सकती हैं। जैसे 'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन', इसके विभिन्न उपक्रम और विभिन्न राज्यों में इसका कार्यान्वयन अनेक सामाजिक बीमा योजनाएं और योजना आयोग की 'सार्वजनिक स्वास्थ्य कवरेज पर उच्चस्तरीय विशेषज्ञ ग्रुप' की रपट। विश्लेषण और निर्णय योग्य प्रमुख मुद्दे होंगेः उचित बजट, गुणवत्तापूर्ण सेवाओं के लिए सभी स्तरों के संस्थानों का सही संतुलन; घरों और समुदायों में स्वास्थ्यवर्धन, बीमारी की रोकथाम, इलाज और प्रशामक उपचार का स्थान और संस्थाओं से तालमेल; आयुष को मुख्यधारा से जोड़ने और स्थानीय परंपरागत स्वास्थ्य संबंधी प्रथाओं को पुनर्जीवित करने के तरीके और उनका प्रभाव; पब्लिक–प्राइवेट पार्टनरशिप; डॉक्टरों, नर्सों और पैरामेडिकल्स की ज्यादा संख्या में सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए हर संभव कदम; उप–केंद्रों, केंद्रों और अस्पतालों की संख्या बढ़ाने की

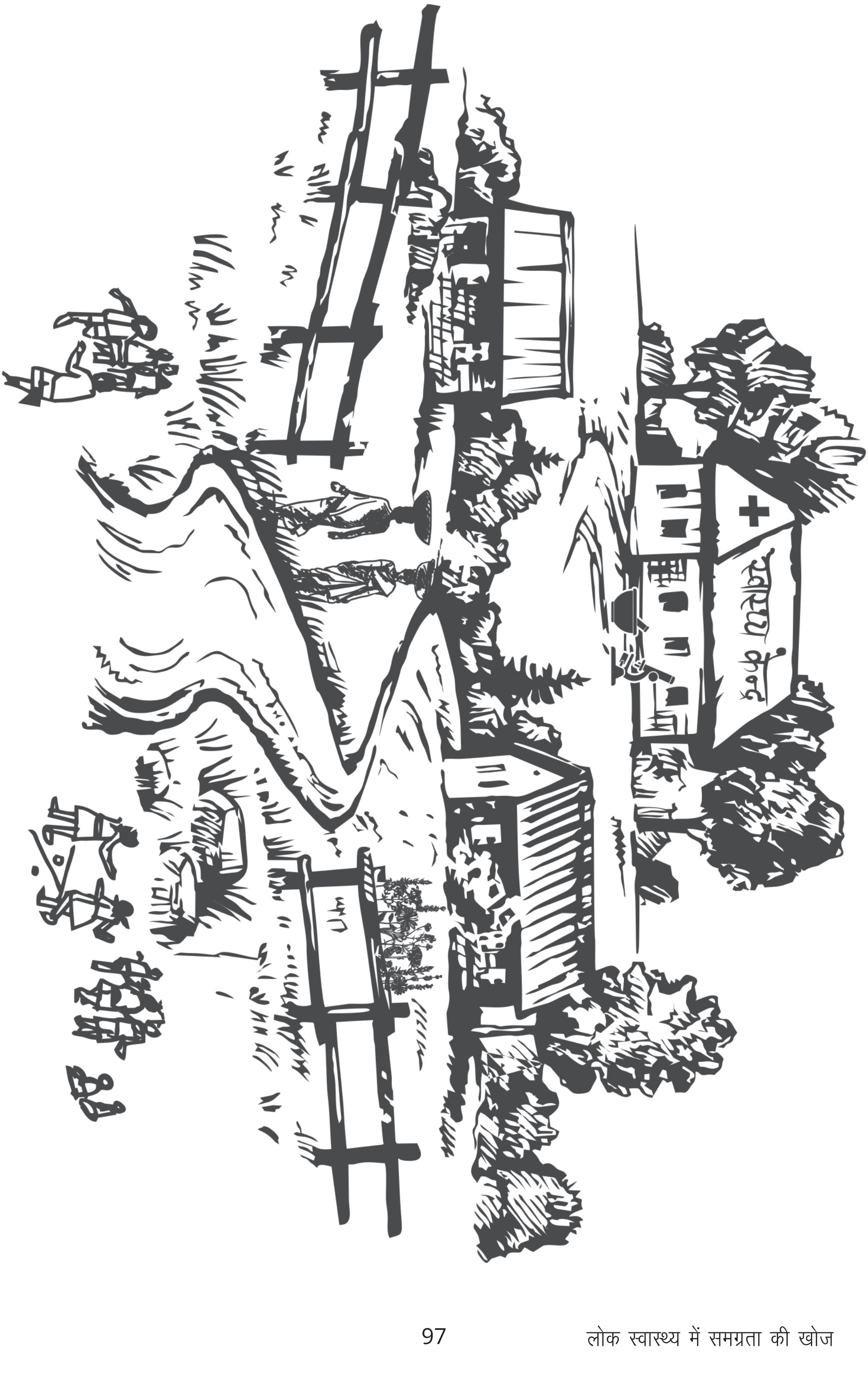
स्वास्थ्य केन्द्र

आवश्यकता; इनमें कार्य संस्कृति को ज्ञान आधारित, उपयोग–सुलभ और लोगों के प्रति संवेदशील बनाना; आवश्यक दवाएं सभी मरीजों को मुफ्त मिलें; पब्लिक हेल्थ काडर की स्थापना; स्वास्थ्य तकनीकी के मूल्यांकन के लिए सरकारी तंत्र की स्थापना; कम खर्चीली और प्रभावकारी स्वास्थ्य तकनीकी का विकास; और समुदाय द्वारा निगरानी के लिए प्रावधान।

प्राइवेट सेवाओं को जिम्मेदार और उत्तरदायी बनाना होगा। साथ ही चिकित्सा प्रतिष्ठान अधिनियम (क्लिीनिकल इस्टैबलिशमेंट्स ऐक्ट) जैसे वर्तमान प्रावधानों का सही क्रियान्वयन; ऐसी प्रक्रियाएं और प्रावधान बनाना, जो अनैतिक स्नातक और विशेषज्ञ डॉक्टरों को किनारे करके पूरे पेशे को कलंकित होने से बचा सकें; मेडिकल शिक्षा का नवीनीकरण, जिसमें तकनीकी स्वास्थ्य ज्ञान के साथ–साथ उसके सामाजिक और नैतिक पक्ष को भी उपयुक्त स्थान मिले।

सबके लिए स्वास्थ्य के इन लक्ष्यों को पाने का रास्ता चुनौतीपूर्ण होगा। इस पुस्तक के पहले आलेख 'ज्ञान स्वराज व स्वास्थ्य' में ज्ञान स्वराज आधारित व्यवस्था बनाने में आने वाली चुनौतियों का उल्लेख है। इन चुनौतियों को समझकर ही व्यवस्था बनानी होगी जो परिस्थितियों अनुसार उपयुक्त हो, कारगर साबित हो।

स्वास्थ्य सेवाओं के साथ–साथ लोक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि ऐसी विकास नीतियां बनें–शहरी विकास, ग्रामीण विकास, कृषि, उद्योग, ऊर्जा की– जो स्वास्थ्यकारी हों। सभी पर पुनर्विचार करके पुनः गढ़ने की आवश्यकता है। जब यह सभी के स्वास्थ्य व खुशहाली पर केंद्रित होंगी तभी आर्थिक विकास 'स्वास्थ्य व खुशहाली' का एक सार्थक माध्यम बनेगा। स्वास्थ्य सेवाएं खुद यह नहीं कर सकतीं परन्तु पब्लिक हेल्थ कर्मियों की ज़िम्मेवारी मानी जानी चाहिए कि वे इन सभी मुद्दों के स्वास्थ्य पर प्रभाव को इंगित करके, स्वस्थकर विकास की अवधारणा समाज के विभिन्न निकायों तक पहुँचाएं। साथ ही हर नीति के पर्यावरण व स्वास्थ्य पर सम्भावित प्रभाव का आंकलन किए बिना उसे अपनाया नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार, स्वास्थ्य स्वावलम्बन व स्वस्थ जीवन की ओर हर भारतवासी बढ़ेगा, यही उम्मीद की जानी चाहिए। जाहिर है कि 'स्वास्थ्य गारंटी' की अवधारणा क्या हो यही स्वास्थ्य सेवा के नीतिकारों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। सभी पद्धतियों के बीच संतुलन कैसे बैठाया जाए? सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में प्राथमिक भूमिका किसकी हो? लोक स्वास्थ्य की नज़र से सभी क्षेत्रों की नीतियों व विकास के काम में 'स्वास्थ्य और खुशहाली' केन्द्र बिन्दु कैसे बनें? कार्यान्वयन के लिए ठोस कदम अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जो नीति अनुसार चुने और गढ़े जा सकते हैं। आवश्यकता है ऐसी नई देशज अवधारणा की, ताकि हर भारतीय कह सके 'यह हमारी स्वास्थ्य व्यवस्था है।' ■

लेखक का परिचय

डॉ. रितु प्रिया, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेन्टर ऑफ सोशल मेडिसन एवम् कम्यूनिटी हेल्थ में प्रोफेसर हैं। साथ ही दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद (सैडेड) के 'हेल्थ स्वराज संवाद' समूह की सदस्या भी हैं। वे दो वर्ष तक राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के नैशनल हैल्थ सिस्टम रिसोर्स सेन्टर में एडवाईज़र–पब्लिक हेल्थ प्लैनिंग रहीं। एम.बी.बी.एस. के बाद भारतीय समाज में डाक्टरी ज्ञान के स्थान को समझने के लिए पब्लिक हेल्थ का अध्ययन व पी.एच.डी. की। इसके अलावा विभिन्न सामाजिक संगठनों जैसे – मेडिको–फ्रेंड सर्कल, जन स्वास्थ्य अभियान, पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबरटीज़, लोकायन एवम् सैडेड में सक्रिय रही हैं। स्वास्थ्य ज्ञान के तकनीकी व सामाजिक–राजनैतिक–सांस्कृतिक पक्षों को स्वास्थ्य नीति कार्यक्रमों व उनके क्रियान्वयन से जोड़ती रही हैं। डा. रितु प्रिया वसुधैव कुटुम्बकम् पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित 'डायलॉग ऑन एडस् : परस्पेक्टिवज़ फॉर द इंडियन कॉन्टेक्स्ट' की सह–संपादिका हैं। मज़दूर, दलित, ग्रामीण व शहरी गरीब समुदायों के नज़रिए से स्वास्थ्य सेवाओं को समझने व विकेन्द्रित नियोजन को आधार मानकर इन्होंने विभिन्न स्वास्थ्य समस्याओं व उनके व्यवस्थागत उपायों पर लेखन किया है।

'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' की ओर से

स्वराज की समझ, उसके अनुसार स्वास्थ्य सम्बन्धी नीति व कार्यक्रम कैसे हों, इस पर संवाद के लिए हमारे यहाँ 'हेल्थ स्वराज संवाद' का कार्य समूह है। इसके द्वारा आयोजित संवादों में ऐलोपैथी व अन्य पद्धतियों के डाक्टर/वैद्य पब्लिक हेल्थ के विशेषज्ञ, लोक चिकित्सक जैसे कि हड्डी बिठाने वाले पहलवान, दाई, सामान्य जन, समाजशास्त्री व समाजकर्मी सभी हिस्सेदार रहे हैं।

'लोक स्वास्थ्य–समग्रता की खोज' एक ऐलोपैथिक डाक्टर, जो पब्लिक हेल्थ की विशेषज्ञ भी हैं, द्वारा लिखी गई है। वह 'हेल्थ स्वराज संवाद' की सदस्या भी हैं। इन्होंने डाक्टरी व पब्लिक हेल्थ में समग्रता के प्रवाह को पहचानने व आत्मसात करते हुए उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया है, खासकर भारतीय/दक्षिण एशियाई परिवेश में। यह पुस्तक लोक स्वास्थ्य पर वैचारिक संवाद को प्रोत्साहन दे सके, इस उम्मीद में हम इसे छाप रहे हैं।

'हरित स्वराज' का विचार मनुष्य से प्रकृति के रिश्ते को समाज के राजनैतिक, सामाजिक, साँस्कृतिक पक्षों के लोकतान्त्रिक आधार से जोड़ता है। 'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' (सैडेड) विभिन्न वैचारिक प्रवाहों को संजो कर उनके बीच संवाद को प्रोत्साहित करता है ताकि 'हरित स्वराज' के बहुआयामी विचार की गहराई तक पहुँचा जाए। दक्षिण एशिया के संदर्भ में 'हरित स्वराज संवाद' ऐसे व्यापक प्रवाहों का हिस्सा है जो स्थानीय समुदायों से लेकर देश व दुनिया के स्तर पर मनुष्य जीवन के लोकतान्त्रीकरण के लिए प्रयासरत् हैं। यह प्रकल्प सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ डवेलपिंग सोसाइटीज़, लोकायन, केपा व सिएमेनपू फाऊंडेशन (फिनलैण्ड) की साझी सृजनात्मक पहल के बतौर शुरू हुआ था।

'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' एक चौपाल है। इसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकें लेखक के विचार प्रस्तुत करती हैं ताकि समाज में चल रहे संवादों की झलक मिले। संवाद की इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने के लिए पाठकों से गुज़ारिश है कि वह इसमें भागीदार बनें व अपने विचार हमें लिख भेजें।

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
www.saded.in

ISBN
978-93-81144-67-1